सन्ध्या लोक

लेखक
स्व. स्वामी वेदानन्द तीर्थ
संस्थापक
विरजानन्द वैदिक संस्थान

सम्पादक
डॉ. विवेक आर्य

प्रकाशक–वितरक
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
427, गली मन्दिर वाली, नया बांस,
दिल्ली–110006
दूरभाष : 43781191

मूल्य : 60 रुपये

प्राप्ति स्थान :
वैदिक प्रकाशन
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा
15 हनुमान रोड, नई दिल्ली–110001
Website : www.thearyasamaj.org
E-mail : aryasabha@yahoo.com

ओ३म्

प्रस्तावना

ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करने को ब्रह्म यज्ञ कहते हैं। ईश्वर की स्तुति उनके अनंत गुणों का गान है। ईश्वर के गुणगान से ईश्वर जैसे न्यायकारी, दयालु, पाप-रहित, ईर्ष्या-द्वेष रहित, कल्याणकारी आदि गुणों का स्वभावतः उदय स्तुति करने वाले में होने लगता है। सांसारिक भोगों में लीन मनुष्य का मन स्थिर न होने के कारण इधर-उधर विषयों में आकर्षित होता है। संध्या और उपासना के मन्त्रों द्वारा हम ऐसे विचार उत्पन्न करते हैं कि मन भिन्न-भिन्न विषयों से हटकर ईश्वर में लीन हो जाये। निरंतर अभ्यास से मन और बुद्धि सात्विक हो जाती है। व्यक्ति की रुचि ज्ञान और भक्ति में होने लगती है। आस्तिकता के प्रभाव से व्यक्ति उत्तम कार्यों में प्रवृत्त होता है। उपासना ईश्वर के समीप बैठने को कहते हैं। संध्या मन्त्रों के द्वारा अर्थ और भावना के साथ संध्या करने से ही व्यक्ति ईश्वर प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। प्रस्तुत पुस्तक संध्यालोक के लेखक स्वामी वेदानन्द महान योगी थे। उन्होंने चिरकाल तक योग साधना द्वारा आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग का वरण किया था। अपने अनुभवों के आधार पर स्वामी वेदानन्द जी द्वारा लिखित यह पुस्तक पाठकों को संध्या के मन्त्रों के अर्थों का सरल बोध कराती है। वेद मन्त्रों के अर्थों पर पर्याप्त चिंतन-मनन करने से सभी योग मार्ग के पथिक बने। सांसारिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति करने मात्र से ही सुख, शान्ति और समृद्धि का वास होगा। इसी भावना से इस पुस्तक का पुनः प्रकाशन किया जा रहा है। इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए श्री धर्मपाल आर्य, प्रधान दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा एवं श्री विनय आर्य महामंत्री, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा को सहृदय धन्यवाद।

-डॉ. विवेक आर्य
सम्पादक

ओ३म्

द्वितीय संस्करण की

प्रस्तावना

सन् 1942 की बात है। श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी महाराज उन दिनों भाटी गेट (लाहौर) के बाहर, लोयर माल रोड पर स्थित, एक ऐसे मकान में जिस का मालिक एक मुसलमान व्यक्ति था, दूसरी मंजिल पर कमरा किराये पर लेकर रहा करते थे। इसी मकान में नीचे की मंजिल में मकान मालिक भी सपरिवार रहा करता था। मकान मालिक की लड़की को कुरान शरीफ की "तलावत" सिखाने के लिये एक मौलवी साहिब आया करते थे। एक दिन मौलवी साहिब कुरान शरीफ के किसी स्थल विशेष की "तलावत" उस लड़की को सिखा रहे थे कि दैवयोग से, स्वामी जी महाराज भी उसी समय ऊपर स्थित अपने स्थान पर जाने के लिये सीढ़ियों से गुजरे। मौलवी साहिब का किसी शब्द विशेष का उच्चारण अशुद्ध था। सीढ़ियां चढ़ते-चढ़ते स्वामी जी ने कहा "मौलवी साहिब! इस लफ्ज़ तलफ्फज़ आप ठीक नहीं कहलवा रहे। इस लफ़्ज का ठीक तलफ्फज़ (ठीक उच्चारण करके) इस प्रकार है"। मकान मालकिन जो पास ही बुर्का पहने बैठी थी स्वामी जी के कथन को सुनकर चौंक उठी। संभ्रमेण खड़ी होती हुई उसने स्वामी जी महाराज को "आदाब अर्ज" कहा। स्वामी जी महाराज उत्तर में 'नमस्ते' कह कर ऊपर अपने स्थान पर चले गये। सायं काल मकान मालिक स्वामी जी की सेवा में हाजिर हुआ। हाथ जोड़ कर उस ने स्वामी जी से कहा 'स्वामी जी! **आप आर्यों के ही गुरु नहीं, हमारे भी 'मुर्शिद' हैं। यह जान कर कि कुरान शरीफ पर भी आपको अबूर हासिल है, हम लोगों के दिलों में आप के लिये अकीदत और भी बढ़ गई है।** मौलवी साहिब जो मेरी

दुखतर को कुरान शरीफ की 'तलावत' सिखाने आते हैं ज्यादा तालीमयाफता नहीं। क्या ही अच्छा हो यदि आप ही मेरी दुखतर को फलां फलां सिपारे की तलावत सिखा दें।'' इसके बाद मुस्लिम मकान मालिक की लड़की दो तीन मास तक स्वामी जी महाराज से कुरान शरीफ की 'तलावल' सीखती रही।

ऐसे एक बार नहीं अनेक बार, श्री स्वा. वेदानन्द तीर्थ जी के प्रकाण्ड पाण्डित्य से प्रभावित होकर, अपनों ने ही नहीं विरोधियों और विपक्षियों ने भी, स्वामी जी महाराज की मुक्तकण्ठ से न केवल प्रशंसा ही की है अपितु उनके सामने सर भी झुकाया है।

संस्कृत- पठन-पाठन में निरंतर लगे रहने के कारण आप का ज्ञान परिपक्वता को प्राप्त हो चुका था। वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों के आप मर्मज्ञ थे; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द ज्योतिष आदि वेदांगों में आप पारंगत थे; न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा आदि शास्त्रों पर आप को पूर्ण अधिकार था। काव्य, नाटक, छन्द, अलंकार आदि सब लौकिक विषय आप को उपस्थित थे। कोई भी व्यक्ति, कहीं से भी कोई स्थल ले आता, आप तुरन्त उस की प्रसंगोचित संगति लगा, सन्तोषजनक व्याख्या कर दिया करते थे। विद्यार्थीगण जब कभी जिस किसी भी विषय को जहां कहीं से और जिस किसी भी स्थल से पढ़ने की इच्छा व्यक्त करते थे, उसका पाठ उज्ज्वल मोतियों की लड़ी की भांति तुरन्त ही स्वामी जी महाराज के मुखारविन्दरूपी झरने से शब्दायमान होता हुआ निकलने लगता था। आर्यभाषा, बंगला, गुजराती, मराठी, सिन्धी, कश्मीरी, पश्तो, उर्दू आदि

देशीय भाषाओं पर आप को पूरा-पूरा अबूर हासिल था। अंग्रेजी भाषा का विद्वान् होने के अतिरिक्त आपको अरबी, फारसी, जर्मन, फ्रैंच, लेटिन, ग्रीक, हिब्रू आदि विदेशी भाषाओं का भी कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त था।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ लेखनी के धनी थे। वेदसंबंधी अनेकों ग्रन्थरत्न आपने रचे हैं। इन में से **वेदामृत, स्वाध्यायसुमन, स्वाध्यायसंग्रह, स्वाध्यायसंदोह, वैदिकधर्म, वेदप्रवेश** बहुत प्रसिद्ध हैं। वैदिक सन्ध्या पर लिखे गये '**संध्यालोक**' नामक टीकात्मक प्रबन्ध के भी रचियता आप ही हैं। आप के संयत और सरल जीवन से अनेकों आत्माओं ने स्फूर्ति पाई है।

स्वामी जी महाराज ब्रह्ममुहूर्त में उठते, शौचादि से निवृत्त होकर सिद्ध आसन लगा साधना में बैठ जाते और सूर्योदय होने के बाद तक उसी आसन में ध्यानावस्थित बैठे रहते, जब ध्यान खुलता उठ कर कुछ देर चहल कदमी करते और फिर अपने दैनिक स्वाध्याय में रत हो जाते थे। स्वामी जी महाराज की योगसाधना पर्याप्त परिपक्व हो चुकी थी। काशी में अध्ययन समाप्त कर, सार्वजनिक कार्यों में संलग्न होने से पूर्व आप चिरकाल तक कुंजाह (जिला गुजरात) स्थित राय बहादुर सुरजन मल्ल के बागीचें में घोर तपश्चर्या करते रहे। श्री स्वामी विशुद्धानन्द जी सरस्वती, श्री स्वामी ईशानन्द जी सरस्वती, श्री स्वामी कृष्णानन्द जी सरस्वती (प्रिंसीपल कल्याण देव) तथा श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी सरस्वती भी उन दिनों आपके साथ ही योगाभ्यास किया करते थे। कहते हैं स्वामी वेदानन्द जी ने यहां रहते हुए योगाभ्यास में संलग्न होकर कई मास तक मौन धारण किये रखा और कई एक दीर्घ- कालीन उपवासों का अनुष्ठान भी किया। निरन्तर अध्यात्मसाधना में लगे रहने के कारण आपके ज्ञानचक्षु

निर्मल और बुद्धि ऋतंभरा हो गई थी। यही कारण है कि आपकी ऊहा ऊर्ध्वमुखी, जिज्ञासा उद्देश्यमुखी और प्रतिभा चौमुखी बन चुकी थी। वैदिक साहित्य में तो आप पहले ही अप्रतिहतगति थे। आप का साहस अदम्य और परिश्रम अपरिमेय था।

ऐसे साधक्, तपस्वी, ध्यानयोगी और महाविद्वान् की कृति **'सन्ध्यालोक'** के द्वितीय संस्करण को आर्य जनता के संमुख रखते हुए मुझे गुरु-ऋण से उर्ऋण होने का सा अनुभव हो रहा है।

'संध्यालोक' के विशेषता यह है कि इसके लेखक ने जो कुछ लिखा है अपनी चिरकालीन साधना से प्राप्त अनुभवों के आधार पर लिखा है, केवल परम्परागत आये ज्ञानमात्र के आधार पर ही नहीं। निष्ठावान्, कर्मयोगी, दृढ़व्रती लेखक के दैनिक-कर्म सम्बन्धी अनुभूत-उद्गारों से समन्वित यह 'सन्ध्यालोक' तीन तापों से ताडित लोक को, सच्चा आलोक दिखलाने में कहां तक समर्थ होगा यह तो अन्तत: साधकों की अपनी साधना पर ही निर्भर करेगा। प्रभु करें आर्य जनता इससे पूर्णलाभ उठाकर भौतिकवाद की पुरजोर आन्धी का मुकाबिला करने में पूरी तरह समर्थ हो सके।

पाठकों की सुविधा के लिये दुरूहस्थलों को सरल बनाने के लिये टिप्पणियां दे दी गई हैं। भक्त जनों के लिये पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के निमित्त प्रत्येक मन्त्र के ठीक बाद बड़े, कोष्ठ में आर्य समाजों में प्राय: गाये जाने वाले, उस आशय के पंजाबी कबित्त भी इस संस्करण में दे दिये गये हैं। हां इन कबित्तों में जहां कहीं छंदोभंग का भान होता था उसे दूर करने का यत्न मैंने अवश्य किया है। पुस्तक के अन्त में **'वैदिक विनय'** (कतिपय प्रार्थनायें,) **'ब्रह्मस्त्रोत्र'** तथा भक्तिभाव से

भरपूर कतिपय भजनों का भी संग्रह कर दिया गया है। आशा है इस से पुस्तक की उपयोगिता और अधिक बढ़ जायेगी।

इस प्रबन्ध को आर्य जनता के संमुख रखने में सम्भवत: मैं इतनी जल्दी समर्थ न हो पाता यदि स्वा0 विज्ञानानन्द सरस्वती जी महाराज मुझे इस कार्य के लिये सतत् प्रेरणा न करते रहते। उनके सुझाव पर ही दुरूहस्थलों पर टिप्पणियों लिखने का विचार बना और उनकी प्रेरणा से ही पंजाबी कबित्तों को समाविष्ट करने का संकल्प हुआ। **'सन्ध्यालोक'** के इस दूसरे संस्करण में जो कुछ भी उपादेय है उसका श्रेय मूल लेखक को है और जो न्यूनता अथवा अनुपादेयहता पाठकों को अखरती है उसका दोषी मैं हूँ। सहृदय पाठकों से केवल इतना अनुरोध है कि मेरे इन स्खलनों को वे क्षमा न करें, अपितु लिपिबद्ध कर मुझे उनसे अवगत कराने का कष्ट करें। आगामी संस्करण में उन्हें सुधारने का प्रयत्न किया जायेगा।

इत्योम्

विदुषामनुचर:
सत्यानन्द: शास्त्री

संगठन-सूक्त

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ।।1।।
हे प्रभो तुम शक्तिशाली हो बनाते सृष्टि को।
वेद सब गाते तुम्हें हैं कीजिये धनवृष्टि को।।
संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।2।।
प्रेम से मिल कर चलो बोलो सभी ज्ञानी बनो।
पूर्वजों की भांति तुम कर्तव्य के मानी बनो।।
समानो मत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभि मंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।3।।
हों विचार समान सबके चित्त मन सब एक हों।
ज्ञान देता हूँ बराबर भोग्य पा सब नेक हों।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।4।।
हों सभी के दिल तथा संकल्प अविरोधी सदा।
मन भरे हों प्रेम से जिससे बढ़े सुखसम्पदा।।

(ऋ0 10/192/1-4)

ओ३म्

सन्ध्यालोक

ब्रह्मयज्ञ अथवा सन्ध्या

पांच महायज्ञों में पहला 'ब्रह्मयज्ञ' अथवा 'सन्ध्या' है। "इसका क्या तात्पर्य है?", " इसकी क्या आवश्यकता है" इत्यादि प्रश्नों के उत्तर 'ब्रह्मयज्ञ' और 'सन्ध्या' इन दोनों शब्दों के अर्थ जानने से मिल जाते हैं। 'यज्ञ' शब्द का भाव उसके मूल धातु के अर्थ को जानने से ज्ञात हो सकता है। 'यज्ञ' शब्द का मूल 'यज्' धातु'[1] है। अतः देवपूजा संगतिकरण और दान ये तीन 'यज्ञ' शब्द के मुख्य अर्थ हैं। इस रीति से 'ब्रह्मयज्ञ' का अर्थ हुआ 'ब्रह्म-देवपूजा', 'ब्रह्म-संगतिकरण' और 'ब्रह्म-दान'।

'ब्रह्म' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ परमेश्वर है[2]। इसलिये 'ब्रह्मयज्ञ' = ब्रह्म-देवपूजा' (जिस का अर्थ होता है परमात्म- देव की पूजा = अर्चा=स्तुति) तथा 'ब्रह्म-संगतिकरण' (जिस का अर्थ परमात्मा के साथ संगति करना, अज्ञान आदि के परदे को हटाकर उपासना के द्वारा निरन्तर अपने आत्मा में परमात्मा के दर्शन करना है) और 'ब्रह्मदान' यानी

....

1. 'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु' (भ्वादिगण)।
2. "ओ३म् खं ब्रह्म' (यजुर्वेद अ. 40 म. 17), अर्थात् "उस परमेश्वर का निज नाम ओ३म् है और वह 'खम्' यानी आकाश की भांति सर्वव्यापक है तथा सबसे बड़ा होने के कारण 'ब्रह्म' कहलाता है"। *(कृ.पृ.दृ.)*
'सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म .... सबसे बड़ा होने से ब्रह्म ईश्वर का नाम है।"
(सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास)

ब्रह्म के प्रति अपने आपे का दान, (अर्थात् आत्म-समर्पण, दूसरे शब्दों में सब भावनाओं एवं सब आश्रयों को छोड़कर केवल ब्रह्म के आश्रय में रहना)। 'ब्रह्मदान' का एक और अर्थ भी यहां संगत है; वह है 'ब्रह्म का दान'। ब्रह्मोपासना से जो रसपान किया है, जो आनन्द लाभ किया है, उस आनन्द की इच्छा दूसरों में उत्पन्न करके उनको उस रस का पान कराना भी 'ब्रह्मदान' है।

'सन्ध्या' शब्द का अर्थ है 'भली प्रकार ध्यान की विधि'। संन्ध्या के इन अर्थो पर दृष्टि देने से पता चलता है कि ध्यान-धारणा के द्वारा परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना 'ब्रह्मयज्ञ' का तात्पर्य है। अपनी न्यूनताओं को दूर कर परमानन्द लाभ करने के लिये इसके अनुष्ठान की आवश्यकता है। अर्थात् शरीर के लिये जैसे भोजन आवश्यक है, अनिवार्य है; उससे कहीं अधिक आत्मा के लिये 'ब्रह्मयज्ञ' की आवश्यकता है।

ब्रह्मयज्ञ के दो भाग[3] हैं, एक संन्ध्या दूसरा स्वाध्याय। यहां पहले सन्ध्या[4] के सम्बन्ध में थोड़ा-सा निवेदन करते है। स्वाध्याय[5] का सन्ध्या के पीछे निरुपण करेंगे।

---

3 इस विषय में महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में पंचमहायज्ञ विषय में निम्न पंक्तियां लिखी हैं: "...उनमें से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है, जिसमें अंगों के सहित वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातः काल और सायंकाल में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। इनमें पठन-पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन-पाठन विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं वहां देख लेना तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा पंचमहायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं, वैसा जान लेना।"

4 "सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या ....जिसमें

ऊपर बताया जा चुका है कि सन्ध्या या ब्रह्मयज्ञ में ध्यानधारण की आवश्यकता है। ध्यानधारणा में अन्तःकरण की क्रियाओं को रोकना भी आवश्यक होता है। बाह्येन्द्रियों का व्यापार तो बन्द करना होता ही है। कपिल महाराज ने कहा है-"**ध्यानं निर्विषयं मनः**" (सां. 6/25) अर्थात् मन को निर्विषय कर देने से ही यह 'ध्यान' बन सकता है, अन्यथा नहीं । इस तरह मूर्तिपूजा, नमाज आदि पूजापद्धतियां ध्यान-साधन में बाधक सिद्ध होती हैं साधक नहीं। ऋषि दयानन्द से पूर्व आर्यो में नाना प्रकार की संध्यायें प्रचलित थीं। ऋषि ने महान् परिश्रम करके उस पुरातन पद्धति का उद्धार किया है। वह पद्धति कितनी उत्तम और सारगर्भित है इसका कुछ आभास आपको आगे की पंक्तियों से मिल जायेगा।

परब्रह्म का भली भांति ध्यान करते हैं वा परब्रह्म का भली भांति ध्यान किया जाता है, वह सन्ध्या है।" *(पंचमहायज्ञ विधि)*

5 पंचमहायज्ञविधि के अपने भाषाभाष्य की भूमिका में श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने स्वाध्याय के सम्बन्ध में निम्न पंक्तियां लिखी हैं:-

"स्वाध्याय शब्द का अर्थ है- स्व का अध्याय (अध्ययन, मनन, विचार चिन्तन)। 'स्व' शब्द के चार अर्थ है: 1 आत्मा (अपना आपा); 2. आत्मीय (आत्महितकारी, निकट-बंधु); 3. नाति (नातेदार, दूर-संबंधी) और 4. धन। मैं क्या हूँ? मेरा निकट-बन्धु कौन है, दूर-संबन्धी कौन हैं और मेरा धन क्या है? इन बातों के विचार, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन का नाम 'स्वाध्याय' है। तनिक-सा विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इस स्वाध्याय में ध्यान (सन्ध्या) भी संविहित है।"

संकल्प

शरीरशुद्धि एवं प्राणायाम द्वारा अन्त:करण को एकाग्रता का मार्ग दिखाकर संध्या की तैयारी आरंभ करते हैं। जो भी कोई कार्य करना होता है, उसके लिये पहले मन में विचार उत्पन्न होता है। वैदिक परिभाषा में उसे 'संकल्प' कहते है।। ब्रह्मयज्ञ करने के पूर्व संकल्प भी तद्विषयक ही होना चाहिये, अतएव सब से पहले गायत्री मंत्र का पाठ होता है। गायत्री मन्त्र में धारणाध्यान द्वारा ब्रह्मोपासना होती है, यह गायत्री मन्त्र के अर्थों से स्पष्ट हो जायेगा। धारणा-ध्यान की तैयारी को व्यक्त करने के लिये इस संकल्प मन्त्र से शिखा-बन्धन आदि करते हैं, मानों बिखरे बालों के समान बिखरे भावों को एकत्र कर रहे हैं।

आचमन

किसी कार्य का संकल्पमात्र कर लेने से ही उसकी पूर्ति नहीं हो जाती, अपितु उसके लिये उपयुक्त सामग्री (मुनासिब सामान) का संग्रह करना आवश्यक है। सब कार्यों के पूर्व शारीरिक संपत्ति का ठीक होना अर्थात् आरोग्य का होना अत्यन्त अनिवार्य है, अत: वैदिक धर्मी अपनी सन्ध्या में संकल्प के बाद 'शन्नो देवी ....' मन्त्र का पाठ करते हैं। इस मन्त्र को पढ़कर आचमन* करने का विधान है। ऋषि लोग बताते हैं कि आचमन करने से कण्ठ के कफादि की निवृत्ति होती है।

---

* ''आचमन' उतने जल को हथेली में लेके उसके मूल और मध्य देश में ओष्ट लगा के करें कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुँचे, न उससे अधिक न न्यून। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की विवृत्ति थोड़ी सी होती है।''
(सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास)

वात, पित्त और कफ के बिगड़ने से सब रोग उत्पन्न होते हैं। अर्थात् आचमन करने से हम शारीरिक रोगों की निवृत्ति का यत्न करते हैं।

कोई आक्षेप कर सकता है कि जल से रोगानिवृत्ति कैसे हो सकती है। इसका समाधान तो आज कल की जल-चिकित्सा है। ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में स्पष्टरूप से जल द्वारा रोग दूर होने की बात कही गई है।
देखिये:-

''अप्सु मे सोमों अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्''
(ऋ0 10/9/6)

अर्थात् ''जल के अन्दर सब दवाइयां और विश्व की उपकारक अग्नि= ''विद्युत भी है''। इस प्रकार ''शन्नो देवी:.........'' मंत्र से आचमन करता हुआ उपासक संसार के स्वास्थ्य का पान करता है, अर्थात् सबकी नीरोगता की कामना करता है।

इन्द्रियस्पर्श

किसी मनुष्य का शरीर वात, पित्त और कफ के विकारों से रहित है, उसे खांसी, जुकाम, बुखार आदि कुछ नहीं वह योग के प्रथम अन्तराय (विघ्न) व्याधि से रहित है। किन्तु उसका शरीर दुर्बल है। बलहीन तो आत्मज्ञान का अधिकारी ही नहीं। जैसा कि उपनिषत् में कहा भी है: **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:'** (मुण्डकोपनिषद् 3/2/7) अर्थात् '' निर्बल इस आत्मा को नहीं पा सकते''। इसलिये ऋषियों ने सन्ध्या विधि में **''ओ३म् वाक् वाक् ओ३म् प्राण: प्राण:....''** इत्यादि आर्ष वाक्यों को रखा। इन वाक्यों में शरीर के सब प्रधान अंगों तथा इन्द्रियों को बलवान् बनाने की प्रार्थना की गई है। यह स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक प्रार्थना का तात्पर्य प्रतिज्ञापूर्वक अनुष्ठान होता है। इन वाक्यों से

एक-एक अंग का स्पर्श करते हुए उपासक मानों अपने अंगों को अभिमर्षित (Hypnotized) कर रहा है।

मार्जन

सब इन्द्रियों में बल आ गया, परन्तु बलमात्र से तो कार्यसिद्धि होती नहीं। क्योंकि यदि मन और इन्द्रियां पवित्र न हों तो वे एकाग्र नहीं हो सकतीं। इसलिये ब्रह्मवादी ऋषियों ने "**ओ३म् भूः पुनातु शिरसि ....**" आदि वाक्य रखे। इन में इन्द्रियों की पवित्रा की शुभकामना की गई है। 'भू' आदि पदों का 'शिर' आदि शब्दों से क्या संबन्ध है, इस बात का निरूपण हम 'सन्ध्या प्रकाश' में करेंगे। इन वाक्यों से एक-एक करके सिर आदि अंगों पर जल छिड़कते** हुए उपासक मानों क्रियात्मक रूप से इनकी शुद्धि कर रहा है। शरीर में रोग नहीं, निर्बलता भी नहीं, इन्द्रियगण में भी अपवित्रता नहीं है। अर्थात् शरीर नीरोग और सबल है, तथा इन्द्रियगण भी पवित्र हैं। अब तो कुछ करना शेष रहा नहीं।

यह ठीक है यदि इन्द्रियों की पवित्रता स्थिर रखी जा सके, तो कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। किन्तु इन्द्रियाँ तो बहुत चंचल हैं, गीता (2/60) में कहा भी है:- "**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः**" अर्थात् "जब मन सावधान नहीं होता तब ये उथल-पुथल करने वाली

**महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास में इस संबन्ध में लिखते हैं:-

"मार्जन अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुली के अग्रभाग से नेत्रादि अंगों पर जल छिड़कें। उससे आलस्य दूर होता है।"

इन्द्रियां मन को भी खींच ले जाती हैं"। अतएव इन्द्रियों को सदा वश में रखना चाहिये। इनको वश में रखने के लिये मन को वश में करने की आवश्यकता है।

प्राणायाम

मन को वश में करना प्राण के वश करने के आधीन है, इसके लिये "ओ३म् भूः, ओ३म् भुवः ...." इत्यादि प्राणायाम वचन का विधान है। इस वचन को पढ़कर प्राणायाम करना चाहिये।

प्राणायाम की एक अत्यन्त सरल विधि यह है:-

पहले श्वास (सांस) धीरे-धीरे बाहर निकालें। सांस बाहर निकालते हुए बिना जिह्वा हिलाये दो बार प्राणायामवचन का पाठ करें। फिर उसे वहीं रोक दें। यत्न करें कि उस अवस्था में भी एक बार प्राणायाम वचन का पाठ हो जाये; किन्तु इसके लिये बनावटी शक्ति का प्रयोग न करना चाहिये। फिर धीरे-धीरे श्वास को अन्दर लें। अन्दर ले जाते समय भी इस वचन का दो बार पाठ होना चाहिये। फिर श्वास को अन्दर रोकें। रोक कर चार बार इस वचन का पाठ करें यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करने चाहिये। सन्ध्या आरंभ करने से पूर्व भी वृत्ति शान्त करने के लिये प्राणायाम करने का विधान है। प्रति सप्ताह एक-एक प्राणायाम बढ़ाकर 21 प्राणायाम करने का अभ्यास करें। जब 21 प्राणायाम होने लगें, तो प्राण रोकने तथा बाहर अन्दर ले जाने के समय को शनैः शनैः युक्ति से बढ़ाने का यत्न करें।

प्राणायाम करते समय मूलेन्द्रिय तथा गुदा को अन्दर की ओर संकोच करें। इससे प्राण अधिक देर तक रुकेगा।

शास्त्रों में प्राणायाम के अनेक लाभ लिखे हैं। हम यहां एक ऐसा लाभ बताते हैं कि जिसका हर एक मनुष्य आसानी से अनुभव कर

सकता है। जब मनुष्य भूमि से भार उठाने लगता है, तो उसके प्राण रुक जाते हैं। यदि भार उठाते-उठाते उसका सांस छूट जाये, तो भार भी उसके हाथों से गिर जायेगा। इससे सिद्ध हुआ कि बलसापेक्ष कार्यों में प्राणायाम की बहुत आवश्यकता है। भोजन करते समय तथा पानी पीते समय भी प्राण रुक जाते हैं, यदि न रुकें तो पानी अथवा भोजन श्वास की नाली में जाकर 'खों-खों' करने पर विवश कर देता है। जब संसार के इन साध ारण कार्यों के लिये प्राणों को रोकने की आवश्यकता है, तो ब्रह्मदर्शनरूपी कार्य के लिये इसकी आवश्यकता में किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता । हाँ! इतना स्मरण रहे, कि एक तो प्राणायाम लगातार और नियम से करें, दूसरे भोजन-पान का विशेष ध्यान रखें। कईयों को भ्रम है कि गृहस्थों को प्राणायाम नहीं करना चाहिये, यह उनकी भूल है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश*, संस्कार विधि** आदि ग्रन्थों में गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को प्राणायाम व योगाभ्यास करने का बार-बार आदेश किया है।

---

* सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास में 'योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते:'' (योगदर्शन 2/28) का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द इस विषय में लिखते हैं:-

''जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तरकाल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।''

** इसी प्रकार संस्कारविधि, गृहाश्रमप्रकरण में महर्षि इस विषय में लिखते हैं:-

''....................जिधर की ओर का वायु हो उधर को मुख करके

प्राणायाम से मन की एकाग्रता पर एक साधारण सा अनुभव करके देख लें। वह यह कि यथाशक्ति बलपूर्वक प्राण बाहर फेंकें। उससे ऐसा प्रतीत होगा कि मन मूर्छित-सा हो गया है अर्थात् संकल्प-विकल्प-रहित हो गया है। इससे सिद्ध हुआ कि मन को एकाग्र करने के लिये प्राणायाम नितान्त आवश्यक है।

अघमर्षण

प्राणायाम द्वारा इन्द्रियाँ वश में हो गई। महान कठिन कार्य सिद्ध हो गया। किन्तु '**श्रेयांसि बहुविघ्नानि**' (भले कामों में बहुत विघ्न आते हैं) के अनुसार एक और विघ्न आ खड़ा होता है। वह है अहंकार। बड़ी बड़ी तपस्याओं के द्वारा अजेय इन्द्रियों को जिसने जीत लिया उसे यदि अहंकार आ जाये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस अहंकार के विनाश के लिये अगले तीन '**ऋतं च सत्यं च ....**' आदि मन्त्र हैं। इनका देवता 'भाववृत्त' है। 'भाववृत्त' का अर्थ है सृष्टि-वृत्तान्त। आओ तनिकसी इस भाववृत्त के भाव की भावना कर लें। ऋग्वेद (9/114/2) में कहा है '**सप्त दिशों नाना सूर्या:।**' अर्थात् दिग् दिगन्तरों में अनेक सूर्य हैं। आज कल पदार्थ- विद्या-विशारदों ने खोज कर कहा है कि इस विशाल संसार में दो अरब सूर्य हैं, अर्थात् दो अरब सौर ब्रह्माण्ड हैं। हमारे सौर ब्रह्माण्ड की लम्बाई चौड़ाई का विचार कीजिये (यह

नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर से संकोच कर हृदय के वायु को बल से बाहर निकाल के यथाशक्ति रोकें, पश्चात् धीरे-धीरे भीतर लेके, भीतर थोड़ा सा रोकें, यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे।''

स्मरण रखिये कि इन पण्डितों के मत से हमारा सूर्य तथा सौर ब्रह्माण्ड सब से छोटा है)। हमारी पृथिवी तथा सूर्य में लगभग साढ़े-नौ करोड़ मील की दूरी है। इस सूर्य का अपने प्लुतु ग्रह से अन्तर तो अत्यन्त महान् है। अपने इस सौर ब्रह्माण्ड की लम्बाई-चौड़ाई ही मनुष्य की बुद्धि को चक्कर में डाल देती है। दो अरब ब्रह्माण्डों की परिधि तो कल्पना के पंख भी जला देती है। दो अरब के सामने एक की क्या स्थिति है? दो अरब में से एक का लोप भी हो जाये, तो कदाचित् कुछ पता भी न लगे। इस हमारे सौर ब्रह्माण्ड में सूर्य सब से बड़ा है। किन्तु विशाल आकाश में वह कितना छोटा दीखता है! विशाल अन्तरिक्ष सागर में एक छोटा सा कमल ही तो प्रतीत होता है। फिर उस छोटे से सूर्य के समक्ष पृथिवी की क्या गणना? सूर्य में 13 लाख पृथिवियें समा सकती हैं। हमारी पृथिवी से सूर्य साढ़े-चार लाख गुणा भारी है। उस पृथिवी में हमारा देश कितना छोटा, है? देश में हमारा नगर या ग्राम कितना क्षुद्र है? उस में हमारा मुहल्ला कितना छोटा है। मकान तो मुहल्ला की अपेक्षा से अवश्य ही नगण्य है। मकान से हमारा तन, और हमारे तन से हमारा मन कितना छोटा है? इस छोटे अति छोटे मन पर विजय से इतराना, अहंकार करना कितनी मूर्खता की बात है? अभिमान का मर्दन अनायास हो जाता है। कदाचित् इसीलिये ऋषियों ने कहा है कि मन में पाप भावों के उत्पन्न होने पर **'ऋत'** मन्त्रों का जपन- मनन करो* हीन की भावना तथा अहंभावना वा अहंकार पाप उत्पादक होते हैं, ऋत का मनन करने से दोनों कुत्सित भावों का लोप हो जाता है, क्योंकि अपनी यथार्थ स्थिति का ज्ञान हो जाता है। कोई इतराने लगे तो लोग उसकी वास्तविक स्थिति का निर्देश

....

* '' ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति'' (ऋ. 4/23/8) अर्थात् --''सृष्टिनियम का विचार पाप दूर करता है।''

कर उसके अहंकार पर प्रहार करते हैं। इस प्रकार वह अहंकार करने वाला मनुष्य अपनी यथार्थ स्थिति का परिचय प्राप्त कर अहंकार-रहित हो जाता है।

कोई-कोई मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो अपनी मानमर्यादा से अनभिज्ञ होते है और अपने आप को दीनहीन समझते हैं। ऐसे लोग भी कर्तव्यकर्म को नहीं कर पाते। ऐसों को भी उनकी योग्यता, मर्यादा आदि का बोध कराके हीन-वृत्ति छुड़ाकर अनुरूप कर्त्तव्य कराये जाते हैं। हनुमान जी को जाम्बवान् जी ने इसी प्रकार का उद्बोधन देकर सीता जी के अन्वेषण के लिये लंका जाने पर तत्पर किया था। इस कथन का सार यह है कि मनुष्य को यथार्थ स्थिति का ज्ञान दीनता और अहंकार दोनों प्रकार के पापों से बचाता है। इन ऋत मन्त्रों में भगवान् को सृष्टिकर्त्ता तथा सृष्टि का वशी= वशकर्त्ता कह कर मनुष्य को उसकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान दिया गया है। इस दृष्टि से इन मन्त्रों का महत्व अतिमहान है। अहंकार को मारने के लिये इन मन्त्रों के मनन-चिन्तन की नितान्त प्रयोजनीयता है।

यह हम पूर्व कह आये हैं कि इन तीनों मंत्रों का देवता=विषय **'भाववृत्त'**=सृष्टिवृत्तान्त है। इन मन्त्रों में बताया गया है कि भगवान ही इस सारी सृष्टि के रचने वाले हैं; सूर्य,चन्द्र, तारे, ग्रह, नक्षत्र, भूमि अन्तरिक्ष, द्यौ, अग्नि, पवन, की सृष्टि कर इन सब को वश में रखते हैं; जीवों के कर्मो के ज्ञाता होने से पूर्वकल्प के अनुसार इनकी रचना करते हैं और वही भूतभावन, पतित-पावन महान् भगवान् इन सब को धारण करते और नियम में रखते हैं। इन मन्त्रों के अर्थ का विचार आते ही अहंकार कोसों दूर भाग जाता है। इस अज्ञेय, और अप्रमेय सृष्टि के सामने हमारा

मन कितनी तुच्छ वस्तु है। ऐसी तुच्छ वस्तु को वश में करने पर हम क्यों अहंकार करें! अनन्त ब्रह्माण्डों को वश में रखने वाला भगवान जब अभिमान नहीं करता, तो हम किस बात का अभिमान करें। इस प्रकार मन का मोह दूर हो जाता है। इसे प्रकृतिस्थ करने के लिये, शान्त रखने के लिये 'शन्नो देवीः ....' मन्त्र पढ़कर फिर तीन बार आचमन करें।

मनसा परिक्रमा

आचमन करने से शान्ति के साथ ही मन भगवान् से छिपना चाहता है, जहां भगवान् न हो ऐसे स्थान की तलाश करना चाहता है इस के लिये वह सामने या पूर्व दिशा में भागता है, किन्तु वहां तो सामने सूर्यरूपी अग्नि दीखती है, जो सबको मार्ग दिखा रही है। इतना बड़ा गोला असित – बन्धनरहित, आकाश में बिना सहारे के लटक रहा है। सचमुच कोई बन्धनरहित असित ही इसका रखवारा है। सूर्य की किरणें उसे भगवान् के वाण के रूप में दीखती हैं। भगवान की इन शक्तियों को श्रद्धा से देखकर दूसरी दिशा–दक्षिण दिशा– की राह पकड़ता है। उधर उसे परमात्मा का दिव्य तेज इन्द्र[1] के रूप में दीखता है। दक्षिण दिशा में उसे सृष्टि का उपादान (Nebula)[2] दीखता है उधर नित्य नये–नये तारे,

---

1. निरुक्त (10–8–9) में 'इन्द्र' शब्द के सम्बन्ध में अपना मत दर्शाकर यास्क ने आचार्य आग्रायण के मतानुसार इस शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार की है 'इदं करणात्' इति 'इन्द्रः'।

2. "The Large- Type Concise English Dictionary" by Charles Annandale में "Nubula" शब्द के निम्न अर्थ दिये हैं: –

"The name for celestial objects resembling white clouds,

ग्रह, नक्षत्र, बनते रहते हैं। इसी मन्त्र का मनन करके ऋषि विश्वामित्र ने बहुत पहले उधर त्रिशंकु[3] आदि तारों की खोज की थी। तिरश्चिराजी=तिरोहित होकर[4], छिपकर गति देने के कारण जिसका ज्ञान होता है, वह भगवान् यहां भी विराजमान है। वृष्टि लाने के कारण[5] सबका पालन करने वाले पितरस्वरूप[6] 'वायु, मानों भगवान् के बाण हैं। वे मानो कह रहे हैं 'इस ओर भी भगवान् विराजमान हैं'। उधर भगवान् को प्रणाम कर पश्चिम की ओर भागता है। छिपते हुए सूर्य

---

in many cases resolved by the telescope into clusters of stars though many nebulae consist of masses of incandescent gas."

3. 'त्रिशंकु' नामक नक्षत्र आकाश में दक्षिण दिशा में स्थित है। 'सन्ध्यालोक' के लेखक के अनुसार सर्वप्रथम इस नक्षत्र का पता ऋषि विश्वामित्र ने लगाया। था। उनकी प्रतिज्ञा का आधार है यह पुराण–गाथा:–

त्रिशंकु नामक सूर्यवंशी राजा आयोध्या में राज करते थे। आपके पिता का नाम हरिश्चन्द्र था। महाराजा त्रिशंकु बड़े बुद्धिमान्, धार्मिक और न्यायप्रिय थे। उन्होंने स्वर्ग प्राप्ति के लिये यज्ञ करने की इच्छा प्रकट की औरअपने कुलपुरोहित महर्षि वसिष्ठ से प्रार्थना की कि वह इस यज्ञ के पुरोहित बनें। क्योंकि महाराजा त्रिशंकु को अपनी भौतिक देह से बहुत मोह था और वह बिना इसका परित्याग किये ही स्वर्ग प्राप्त करना चाहते थे और यह था भी अतिदुष्कर और असंभवप्रायः, अतः महर्षि वसिष्ठ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार न की। इस पर महाराजा त्रिशंकु ने महर्षि विश्वामित्र को (जिनके कुल की दुर्भिक्ष के समय महाराजा त्रिशंकु ने बड़ी सहायता की थी) अपने

4- तिरश्चिराजी= तिरश्चि+आ+अजी (अजति, गच्छति इति अजः, अजः अस्यास्तीति) अर्थात् तिरछी (तिरोहित) गति वाला।

की छवि निराली है। सूर्य जीवन का आधार है किन्तु अब तो वह अस्त हो गया, इस समय कौन रक्षा करता है। वरुण= सर्वान्तर्यामी भगवान् पृदाकू[7] (पालक और गतिदाता के रूप में) रक्षा कर रहा है। अन्न=भोज्य पदार्थ जो मानो रात्रि को बढ़ते हैं, उसके वाण हैं, वे मानों कह रहे हैं, ''क्या हुआ

यज्ञ का पुरोहित बनने के लिये कहा। महर्षि विश्वामित्र ने यज्ञ करवाना स्वीकार कर लिया और अन्य ऋषि-महर्षियों को यज्ञ में पधारने के लिये निमन्त्रण भिजवाये। परन्तु इस यज्ञ को सम्पन्न कराने में महर्षि विश्वामित्र को किसी भी ऋषि-महर्षि ने अपना सहयोग देना उचित न समझा।

इस पर महर्षि विश्वामित्र ने स्वयं ही महाराजा त्रिशंकु की 'स्वर्गेष्टि' सम्पन्न करवाई और अपने तपस्प्रभाव द्वारा यज्ञसमाप्ति पर महाराजा त्रिशंकु को देहसमेत भूमि से उठाकर स्वर्ग की ओर भेजने में समर्थ हुए। देहसमेत ऊपर जाते समय जब महाराज त्रिशंकु स्वर्ग में घुसने लगे तो उनका सिर स्वर्ग के महराब से टकरा गया। इस पर देवों के राजा इन्द्र ने उन्हें ऐसा धक्का दिया कि महाराजा सिर के बल भूमि की ओर गिरने पर मजबूर हो गये। जब यह माजरा महर्षि विश्वामित्र ने देखा तो उन्होंने महाराजा त्रिशंकु को सम्बोधित करते हुए कहा '**तिष्ठ त्रिशंको!**'' और अपने तपस्प्रभाव से उन्हें (त्रिशंकु को) वहां पर ही रोक दिया। कहते हैं तब से अब तक महाराज त्रिशंकु वहां पर ही आकाश में दक्षिण की ओर सिर के बल 'त्रिशंकु' नामक नक्षत्र समूह के रूप में ठहरे हुए हैं।

---

5. संसार में वर्षा करने वाली हवायें प्राय: दक्षिण से ही आती हैं।
6. पान्ति इति पितर:।
7. पृ. पालनपूरणयों' (जुहोत्यादिगण), 'अककुटिलायां गतौ' (भ्वादिगण) इन दोनों के मेल से पृदाकू शब्द बनता है।

जो भगवान् चर्म-चक्षुओं से नहीं दीखते, भक्त! हैं वे दयानिधान सर्वत्र विराजमान''। छिपने का स्थान न पाकर सिर झुका उत्तर दिशा को जाता है। वहां तो वहां तो सोम[1] =नेति, नेति ज्ञान देने वाला महामहिमवान् भगवान् छ: महीने लगातार दीखने वाला[2] विद्युत्रूपी बाणों से भक्त को अपनी सत्ता का बोध कराता है। वहां स्वज[3] = भली प्रकार गतिदाता के रूप में रक्षक के दर्शन होते हैं। चहुं ओर भगवान् की विभूति देखकर विचार आया, कदाचित् नीचे की दिशा में बचने का स्थान मिल जाये; इस भाव से मन नीचे की ओर जाता है, वहां तो सर्वव्यापक-विष्णु[4] के गुल्म- लता-रूपी बाण दीखते हैं, जो बताते हैं कि भगवान् कल्माषग्रीव[5]=विचित्र ग्राहक शक्ति वाला है। आम का बीज डालने पर आम का वृक्ष उत्पन्न होता है। नीम का बीज डालने पर नीम का वृक्ष उगता है। बीज जड़ हैं। उनमें यह सामर्थ्य कहां कि वे अपने अनुकूल

---

1. 'पुञ अभिषवे' इससे 'सोम' शब्द की निष्पत्ति होती है।
2. उत्तरी ध्रुव के समीपस्थ देशों में छ: महीनों तक लगातार सूर्य दिखाई देता है। वहां छ: महीने का दिन और छ: महीने की रात होती है।
3. स्वज:=सु+अज: (अज गतिक्षेपणयो: से)।
4. ''विष व्याप्तौ'' (जुहोत्यादिगण) अथवा 'वि' पूर्वक ''अश व्याप्तौ संघाते च'' (स्वादिगण) इन धातुओं से 'विष्णु' शब्द सिद्ध होता है।
5. कल्माषग्रीव=कल्माष+ग्रीव; 'कल्माष' का अर्थ है विचित्र अथवा चितकवरा। ग्रीवा की निष्पति निरुक्त (2/28/1) में इस प्रकार दी है:- ''ग्रीवा गिरतेर्वा गृणातेर्वा गृह्णतेर्वा'' अर्थात् 'ग्रीवा' शब्द गृनिगरने' (तुदादिगण), 'गृ शब्दे' (क्रयादि गण) 'गृह ग्रहणे'(क्रयादिगण) इन धातुओं से बना है।

सामग्री को संचित कर सकें। यह 'कल्माषग्रीव' सर्वव्यापक भगवान् की विचित्र शक्ति है जो उन बीजों को अनुकूल सामग्री देकर वृक्ष आदि बाण के रूप में सामने आकर उसे वहां भी परमात्मा की सत्ता की महत्ता जता देती है। अत: वहां से ऊपर को उड़ता है। तो भगवान् का भान बृहस्पति[1]=बड़े-बड़े लोक लोकान्तरों के रक्षक के रूप में होता है आकाश में असंख्य ग्रह, तारा, नक्षत्र आदि बिना किसी प्रत्यक्ष आश्रय के खड़े हैं, इन्हें कौन सहारा दे रहा है? भगवान् ही तो! सचमुच वह श्वित्र[2] = सबका गति दाता और त्राता, रक्षक ही है। अनेक भयंकर रोगों से वही बचाता है। हमारा फेंका जलकण भी ऊपर नहीं ठहर पाता, किन्तु उसने तो अनन्त जल राशि आकाश में संभाल रखी हैं जो समय पर वृष्टि के रूप में उसकी प्रेरणा से भूमि पर आती है। यही वर्षा मानो भगवान् के वाणों का काम देती है।

उपस्थान

मन ने सब ओर परिक्रमा कर ली। मनसा परिक्रमा हो ली। सब ओर भगवान् विराजमान प्रतीत हुए। अत: भक्त भगवान् के समीप आता है, भगवान् का उपस्थान करता है और मस्त होकर कहता है '**उद्वयं तमसस्परि.......**' ''प्रकृति से श्रेष्ठ आत्मतत्व का दर्शन करते हुए तुझ देवाधिदेव भगवान् को हम प्राप्त हुए हैं''। मन्त्र में दो-एक बातें विशेष

---

1 ''वृहतामाकाशादीनां पति: स्वामी पालयिता'' इति (सत्यार्थप्रकाश प्र. समु.)

2 'शिव गतिवृद्धयो:' (भ्वादिगण), 'त्रै पालने' (भवादिगण) इनसे श्वित्र:' शब्द बना है।

विचारने के योग्य हैं। मन्त्र के आरंभ में **उत् मध्य में उत्तर और अन्त में उत्तम** पद हैं। प्रकृति को उत्=उत्कृष्ट बताया है। जीवों का सारा सांसारिक व्यवहार प्रकृति से सिद्ध होता है। अत: प्रकृति उत्=उत्कृष्ठ है, किन्तु जीवात्मा ज्ञानवान्, चेतन होने से उत्तर-उत्कृष्टतर है। भगवान् सबका गतिदाता, जीवन-प्रदाता होने से उत्तम- उत्कृष्टतम है। प्रकृति को इस मन्त्र में तमस् कहा है। प्रकृति की ही एक विकार सूर्य है, फिर भी प्रकृति को वेद भगवान् ने तमस् कहा हैं इसमें एक रहस्य है। तमस् दृष्टि-प्रतिबन्ध करता है। सूर्य चन्द्र, अग्नि, दीप या किसी प्रकाशमय पदार्थ पर दृष्टि डालिये, आपकी दृष्टि उसे पार न कर सकेगी। इन प्रकाशमान पदार्थो ने यहाँ तमस् का काम किया है। फिर आत्मदर्शन में तो ये प्रकृतिक पदार्थ सर्वथा बाधक ही हैं[1]। अत एव इन्हें भी तमस् कहा गया है।

भगवान् कहां हैं, उनका कोई चिन्ह बताओ, इसके लिये '**उदु त्यं जात......**' मन्त्र का चिन्तन करो। समस्त संसार भगवान् का ज्ञापक है। देखो तो '**चित्रं देवाना मुद्..........**' आकाश में विचित्र देवसेना आई है, ज्ञानी के लिये यह चक्षु का काम देता है'। भगवान् तो तीनों लोकों में व्यापक हैं। वे तो ''**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुष:**'' स्थावर जंगम्, चर और अचर सम्पूर्ण संसार के आत्मा हैं। अत एव 'स्वाहा' मैं उनको आत्मसमर्पण करना चाहता हूँ।' '**तच्चक्षु:**' ''वह भगवान् तो मानो

---

1. इसी तथ्य को यजुर्वेद (40/18) ने इस प्रकार दर्शाया है- ''हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'' अर्थात् ''सुनहरी पात्र (प्राकृतिक चकाचौंद) ने सत्य (वास्तविक सच्चाई) के मुख को ढक रखा है। ''

सामने है''। दयानन्द स्वामी ने इसी रहस्य को सामने रखकर परमात्मा को प्रत्यक्ष लिखा है। इसके आश्रय से हम अदीन होकर सारी आयु स्वस्थेन्द्रिय होकर जीयें।

उपासना

इस प्रकार उपस्थान से आनन्दभान कर उस आनन्द को चिरस्थायी करने के लिये ''**ओ३म् भूः भूवः स्वः। तत्सवितुर..................**'' इस मन्त्र से भक्त उपासना करता है। भूः=सत्, भूवः=चित् और स्वः=आनन्द अर्थात् 'सच्चिदानन्द प्रभो! तुझ जगत्-प्रसविता के सर्व-पाप-नाशक प्रसिद्ध तेज को हम धारण करते हैं, वह आपका तेज सदा हमारी बुद्धियों को सत्प्रेरणा करे'। इससे पूर्व देवपूजा=परमात्मा की पूजा= स्तुति आदि थी, अब वह परमदेव की उपासना=प्रभु का संगतिकरण है।

समर्पण और नमस्कार

संगति का फल अवश्य होता है। जैसे अग्नि की संगति से शरीर में गरमी आती है, वैसे ही प्रभु के मेल से आत्मा में ईश्वर का तेज संक्रान्त होता है, उससे अज्ञान, कुवासना आदि पाप नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य में भली भावना पैदा होती है, बुद्धि विमल होती है। इसका फल होता है आत्मार्पण= ब्रह्मदान। भक्त अपने आप को प्रभु के हवाले कर देता है और प्रेम से कहता है- '**नमः संभवाय च....**'। पहले शंभु=कल्याण भाव वाला बनना होता हैं, शंभुभावना को स्थिर रखने के लिये शंकर=कल्याणाकारी बनना चाहिये। शंकर अवस्था में जब सर्वथा निष्काम भाव आ जाता है, तब शिव बनता है। भगवान् सदा शंभु अत एव सदा शंकर और सुतरां शिव हैं, उनको नमः (आत्मसमर्पण) है। इसके बदले

में भगवान् आध्यात्मिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक शान्ति प्रदान करते हैं। इस प्रकार विचार का ब्रह्मयज्ञः का अनुष्ठान किया जाये तो तीनों अर्थ संगत होकर विशेष आत्मलाभ होता है।

एक और विशेषता

इस संध्यापद्धति में एक और विशेषता भी है। इसमें योग के आठों अंग सम्मिलित हैं। योग के आठ अंग निम्नलिखित हैं:- 1. यम 2. नियम 3. आसन 4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान 8. समाधि[1]।

योग के पहले अंग 'यम'[2] का अर्थ साधारणतया बुराइयों दुर्बलताओं से बचना है। यहाँ ''**शन्नो देवोः...** मन्त्र में मानों '**यमों**' का वर्णन है। रोग पाप का फल है, चाहे वह पाप शारीरिक हो या आत्मिक। जब दुर्बलता हटाने की हम प्रतिज्ञा करते हैं, परमात्मा से प्रार्थना करते हैं, तो मानों हम हिंसादि सब पापों के त्याग की प्रतिज्ञा करते हैं, दुर्बलता यहां सारे पापों की उपलक्षण हैं योग का दूसरा अंग नियम[3] है। 'नियम'

---

1. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि (यो0 2/29)
2. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः (यो0 2/30)
3. शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः (यो0 2/32)

---

1. स्थिरसुखमासनम् (यो. 2/46)
2. ''तस्मिन सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः'' (यो. 2/49) अर्थात् उस के (आसन के) होने पर साँस के आने-जाने की गति को रोकना प्राणायाम है'।
3. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (यो. 2/54)

शौचादि सद्‌गुण धारण करने को कहते हैं। **'ओं वाक् वाक्......'** इत्यादि तथा **'ओ३म् भूः पुनातु......'** इत्यादि वाक्य **'नियमों'** के द्योतक हैं, इनमें बल, पवित्रता आदि प्राप्त करने की प्रार्थना है। इस के बाद सन्ध्याविधि में योग के तीसरे अंग 'प्राणायाम' का विधान है, और 'प्राणायाम' बिना 'आसन' के हो नहीं सकता । इस वास्ते आसन[1] योग का तीसरा अंग तथा 'प्राणायाम[2] योग का चौथा अंग दोनों ही आ गये। इन्द्रियों के ब्राह्म व्यापार को रोक कर उनको अर्न्तमुख करना प्रत्याहार[3] कहता है। यह योग का पांचवां अंग है। यहां सन्ध्या–पद्धति में 'अघमर्षण' 'मनसा' परिक्रमा' तथा 'उपस्थान' मन्त्रों में यही प्रक्रिया है। मन इधर–उधर भागता है, उसको रोक कर प्रभु की ओर ले जाने के लिये ही 'अघमर्षण,' मनसा परिक्रमा' तथा **'उपस्थान'** का पुनीत प्रयत्न है। इसके पश्चात् योग में 'धारणा' छटा अंग तथा 'ध्यान' सातवां अंग हैं। धारणा का लक्षण योगदर्शन में **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'** (यो. 3/1) कहा है अर्थात् चित्त को कहीं लगाना 'धारणा' कहलाता है। '**ध्यान**' का लक्षण **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'** (यो. 3/2) है अर्थात् धारणा के विषय में प्रत्यय का दृढ़ होना (उसी ज्ञान का बना रहना) ध्यान है। ये दोनों बातें गायत्री मन्त्र के **'धीमहि'** पद में आ जाती हैं। 'धीमहि'[1] का अर्थ है हम धारण करते हैं और हम ध्यान करते हैं। इसके बाद योग का आठवां अंग 'समाधि' है। 'समाधि' का लक्षण है **'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'** (यो. 3/3)। वही

1. 'डुधाञ धारणपोषणयोः' (जुहोत्यादिगण) तथा 'ध्यै चिन्तायाम्' (भ्वादिगण) से 'धीमहि' क्रियापद बनता है।

ध्यान जिसमें अपने स्वरूप की विस्मृति सी हो और केवल ध्येयपदार्थ का भान हो, 'समाधि' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि ध्यान में ध्याता (ध्यान करने वाला), ध्येय (जिसका ध्यान किया जा रहा है) तथा ध्यान इन तीनों का भान होता है, किन्तु समाधि में अपना स्वरूप भूल जाना होता है और उसे केवल ध्येय का भान होता है अपने आपको भूलने का अर्थ ब्रह्मार्पण है। इसी बात का प्रतिपादन **'नमः' शंभवाय च.........'** मन्त्र में है। इस मन्त्र का नाम 'समर्पण मन्त्र' है। इस मंत्र में आये **'नमः'** शब्द का भी यही भाव है। 'नमः' के अनेक अर्थो में एक अर्थ है **'स्वापकर्षज्ञापनपूर्वक-परोत्कर्षनिवेदनम्'** अर्थात् अपने को अपकृष्ट मानकर दूसरे को उत्कृष्ट स्वीकार करना। भक्त भगवान् को इसी भाव से नमस्कार करता है। ''समाधि'' का फल है 'परम शान्ति'। यह संक्षेप में सन्ध्या करने की विधि कह दी गई है।

आवश्यक निर्देश

अब सन्ध्या मन्त्रों के अर्थ करने से पूर्व कुछ आवश्यक निर्देश करते हैं:–

1. सन्ध्योपासना के लिये यथासंभव निर्वात स्थान होना चाहिये। यदि खुले स्थान पर बैठकर करनी हो तो जिधर से वायु आती है उधर मुख करके बैठना चाहिये।

2. गृहस्थ लोग स्वस्तिक[1] आसन से बैठा करें। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी जिस आसन से चिरकाल तक सुखपूर्वक बैठ सकें,

1 साधारण तौर पर आलथी पालथी मार कर बैठने का नाम ही स्वस्तिक आसन है।

उससे बैठें। शरीर कड़ा न करें और न ही शिथिल रखें। किन्तु सम रखें, जिस से मेरुदण्ड (रीढ की हड्डी) सीधी रहे (आसन के लिये कुशासन और उसके ऊपर कोई कम्बल या केवल कम्बल होना चाहिये। तात्पर्य केवल नरम आसन से है। गीता (6/11) में उपासना स्थान के संबन्ध में कहा है:-

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छितं नाति नीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्'।।

अर्थात् 'पवित्र स्थान में अपना आसन लगाये, स्थान ऊंचा-नीचा न हों, वस्त्र, मृगचर्म, तथा कुश का आसन हो''। फिर आगे 13 वें श्लोक में ''**समकायशिरोग्रीव**' शरीर, गर्दन, तथा सिर एक सीध में हों ऐसा कहा है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् (2/10) में भी कहा है:-

समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीड़ने, गुहा निर्वाताश्रयणे प्रयोजयेत्।।

अर्थात् ''समतल, पवित्र, कंकड़ आग रेत से रहित, शब्द करने वाले जलाश्रय (भरने) आदि युक्त, मन के अनुकूल, आंखों को सुख देने वाले निर्वात स्थान में गुफा बनायें''।

3. कम से कम एक घण्टा प्रातःकाल तथा एक घण्टा सायं प्रतिदिन सन्ध्योपासना करनी चाहिये। मुमुक्षु को कम से कम उससे दुगना समय लगाना चाहिये।

4. मन्त्र का पाठ करते समय जिह्वा तक न हिलाई जाये। गायत्री

---

1. 'अचोऽन्त्यादि टि' (अष्टा0 1/1/64) अर्थात् ''अन्त्य अच् (स्वर) है आदि में जिसके उस समुदाय की 'टि' संज्ञा होती है''।

जाप करते समय एक बात का विशेष ध्यान रखें। उपासक का मन सर्वथा मन्त्रपदों में हो। कल्पना करो, जप करते आप '**स्वः**' पद पर पहुँचे हैं और मन महाराज कहीं अन्यत्र चले गये हैं तो आप को फिर मन्त्र के आरंभ से पाठ करना चाहिये। इससे यह संभव है कि आप कई दिन तक गायत्री मन्त्र का एक बार भी जप न कर सकें किन्तु आप में एकाग्रता तथा शान्ति बढ़ती चली जायेगी।

5. हर एक वेदमन्त्र के आदि में प्लुत 'ओ३म्' का पाठ करें और अन्त में भी। किन्तु अन्त में पाठ करने के लिये मन्त्र के अन्तिम स्वर को और यदि अन्त में व्यंजन हो, तो उस व्यंजन तथा उसके पूर्ववर्ती स्वर को हटाकर 'ओ३म्' पढ़ें। यह हमारी कपोल-कल्पना नहीं है अपितु ऋषि-महर्षियों ने यह व्यवस्था की है। पाणिनी जी महाराज ने अपनी अष्ठाध्यायी (8-2-87) में 'ओमभ्यादाने' (अर्थात् मन्त्र के आरंभ में 'ओम्' को प्लुत (ओ३म्) करना चाहिये) और 'प्रणवष्टेः' (8-2-89), (मन्त्र के 'टि'[1] भाग को 'ओ३म्' आदेश करना चाहिये) ऐसा आदेश किया है। महाराज मनु ने भी कहा है:-

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्व परस्ताच्च विशीर्यति।।

(मनु. 2-74)

सदा वेदमन्त्र के आरम्भ और वेदमन्त्र के अन्त में 'ओ३म्' लगाना चाहिये। मन्त्र के आदि और अन्त में 'ओ३म्' न लगाने से मन्त्र पाठ का पूर्ण फल नहीं मिलता।

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि मन्त्र आदि और अन्त में ओ३म् लगाने को पद्धति वही है जो पाणिनि महाराज ने विधान की है और

जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है।

6. इस सारी सन्ध्या में एक बात बहुत मननीय है, वह यह कि यहां वैयक्तिक प्रार्थना नहीं है; सामुदायिक प्रार्थना है उदाहरण के लिये **'शन्नो देवी:.........'** मन्त्र में **'न:'**, मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में 'अस्मान्' वयम्', 'द्विष्म:' दध्म:', उपस्थान के पहले मंत्र में वयम्' 'पश्यन्त:' अगन्म' तथा उपस्थान के चौथे मन्त्र में 'पश्येम' 'जीवेम 'श्रुणुयाम' प्रब्रवाम' 'अदीना: स्याम', गायत्री मंत्र में 'धीमहि' 'न:' ये सब के सब पद बहुवचनान्त हैं। गायत्री और 'नम: शम्भवाय०' मन्त्र के बीच में **'हे ईश्वर-दयानिधे:.......'** इत्यादि आर्ष वाक्य में जो **'न:'** पद है वह भी बहुवचनान्त है।

इस सामुदायिक प्रार्थना से यह नहीं समझना चाहिये कि वैदिक उपासक वैयक्तिक प्रार्थना का महत्व नहीं मानता। प्रत्युत वह समझता है कि उपासना के लिये चारों ओर का वातारण शान्त, पवित्र एवं मंगलमय होना चाहिये। इस भावना से **वह केवल अपने ही कल्याण की प्रार्थना नहीं करता वरन् सबकी भलाई की भावना से भावित होकर भगवान् से सब के लिये मंगल कामना करता है।** उस में अपने लिये तो प्रार्थना अनायास ही आ जाती है। इससे एक उत्कृष्ट भाव का उदय और परिमार्जन होता है वह यह कि स्वार्थ भावना से उपासक ऊपर उठ जाता है।

सन्ध्या कितने समय करनी चाहिये

आजकल कई लोग तीन काल तथा कई चार समय सन्ध्या करने का विधान करते हैं। वेद और मनुस्मृति आदि धर्म-शास्त्रों में केवल दो समय सन्ध्योपासना का विधान है। अथर्ववेद में कहा है:-

---

1. पूरे मन्त्र तथा उसके अर्थ के लिये लेखक के 'वैदिक-धर्म' का 'ब्रह्मयज्ञ' शीर्षक प्रकरण देखिये।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरासूर्यात! पुरोषस:।।

(अथर्व0 10-7-31)

अर्थात् सूर्योदय से पूर्व तथा सूर्यास्त से पूर्व ओंकार के द्वारा नमस्य परमात्मा का भजन करता है[1]। इसी आशय को लेकर सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण (4/5/4) में कहा है:-

''तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मण: सन्ध्यामुपासीत।
उदयन्तमस्तयन्तमादित्यमभिध्यायन्।।''

अर्थात् इस वास्ते दिन और रात के मेल होने पर सूर्य के उदय और अस्त का विचार करके ब्राह्मण सन्ध्या उपासना करे'।

स्मृतिकार मूर्द्धन्य मनुजी ने भी यही बात निम्नांकित श्लोक में कही है:-

न तिष्ठति तु य: पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शद्रवद्बहिष्कार्य: सर्वस्माद् द्विजकर्म्मण:।।

(मनु. 2/103)

अर्थात् ''जो मनुष्य न तो प्रात: काल सन्ध्या का अनुष्ठान करता है, और न ही सायं समय सन्ध्योपासना करता है, वह शूद्र की भांति संपूर्ण द्विजकार्यो से बहिष्कार करने योग्य हैं।'' इससे सिद्ध है कि सन्ध्या दो समय ही करनी चाहिये। इसी भाव को सामने रखकर महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश में दो समय[1] सन्ध्या करने का विधान किया है।

-----0-----

---

1. '' सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं प्रात: दो ही काल में करें। दो ही रात दिन की सन्धिवेला हैं अन्य नहीं ....।''

(तृतीय समुल्लास)

।। ओ३म्।।

वैदिक सन्ध्या

जलादि से शरीर शुद्धि, नेत्रादि का आलस्य यदि हो तो मार्जन करके कम से कम तीन प्राणायाम करें। इन प्राणायामों के साथ किसी वचन के पाठ की आवश्यकता नहीं। (पहले गायत्री मन्त्र पढ़कर शिखा बांध देनी चाहिये)

आचमनमन्त्र

(इस मन्त्र से तीन आचमन[1] करें)

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः।।

(यजु. 36/12)

(ओमकार प्रभु तेरा नाम।
गुण गावे संसार तमाम।।
तेरी महिमा गावन वेद।
तेरे जपयां न आवे खेद।।
सत चित आनन्द स्वरूप।
निराकार निर्भय अनूप।।
जगदा स्वामी पालनहारा।

1. 'आचमन किस प्रकार किया जाये ?', इसके लिये पिछले पृष्ठों का अवलोकन करें।

जग् पर्काशक व्यापक सारा।।
मन् मांगे सुख भोग तमामी।
पूरण आनन्द देव स्वामी।।
वर्षा सुख दी करो हमेश।
तीन ताप हों दूर कलेश।।)

(ओ३म् हे परमात्मन्! (देवीः) दिव्य गुण युक्त (आपः) जल (अभिष्टये) इष्टप्राप्ति के लिये और (पीतये) पान के लिये (नः) हम पर (शं) सुखकारी (भवन्तु) होवें और (नः) हम पर (शंयोः) सुख और निरोगता की (अभि स्रवन्तु) सब ओर से वृष्टि करें। अथवा हे (देवीः आपः) दिव्यगुण वाले सर्वव्यापक प्रभो! आप हमारी इष्टसिद्धि और पनादि व्यवहार के लिये सदा सुखदायी होवें और हम पर शान्ति एवं नीरोगता की वृष्टि करें।

इन्द्रियस्पर्शमन्त्र

(निम्नलिखित आर्ष वाक्यों से उस-उस इन्द्रिय का स्पर्श करें)

ओ३म् वाक् वाक्। ओ३म् प्राणः प्राणः। ओ३म् चक्षुः चक्षुः।
ओ३म् श्रोत्रं श्रोत्रम्। ओ३म् नाभिः। ओ३म् हृदयम्।
ओ३म् कण्ठः। ओ३म् शिरः। ओ३म् बाहुभ्यां यशोबलम्।
ओ३म् करतलकर पृष्ठे।।

(दीन्दयाल दया के सागर।
दीजिये हं को बुद्धयुजागर।।
ग्यान कर्म दश इन्द्री मेरे।
कभी न आवें पाप के नेरे।।
रस भरी शुभ बोलें वाणी।
प्राण पवितर करो स्वामी।।

दो अखियां दो कान पिताजी।
देखें सूनें पवित्र कथा ही।।
नाभी हिर्दय कंठ भुजायें।
हाथों से न हं पाप कमायें।।
यश् बल जित्ना मिले प्रभुजी।
शुभ कर्मों में लगे सदा ही।।)

(ओ३म्) हे परमात्मन्। (वाक् वाक्) वाणा वाणा रहे। (ओ३म्) जीवनाधार! (प्राण: प्राण:) प्राण (जीवन शक्ति) जीवन शक्ति बनी रहे। (ओ३म्) हे दर्शनशक्ति-दात:! (चक्षु: चक्षु:) दर्शनशक्ति दर्शनशक्ति ही बनी रहे। (ओ३म्) हे श्रवणशक्ति के दाता! (श्रोत्र श्रोत्रम्) श्रवणशक्ति श्रवण शक्ति बनी रहे। (ओ३म्) सर्वशक्तिमन्! (नाभि:) शरीर को संघटित रखने वाली शक्ति बनी रहे। (ओ३म्) हे सर्वपाप-हरण-पूर्वक पवित्र कोमल भावों के प्रदाता परमात्मन्! (हृदयम्) मेरा हृदय कोमल भावनाओं का आलय होवे। (ओ३म्) हे कलकंठ प्रदान करने वाले भगवान्! (कण्ठ:) मेरा कण्ठ बना रहे। (ओ३म्) हे विचारशक्ति प्रदान करने वाले प्रभु! (शिर:) सिर सुरक्षित रहे। (ओ३म्) हे सर्वशक्तिमन् भगवन्! (बाहुभ्याम्) भुजाओं के लिये (यशोबलम्) यशयुक्त बल दे। (ओ३म्) हे सर्वदाता:! सर्वरक्षक! (करतलकरपृष्ठे) हाथ की हथेली तथा हाथ की पीठ दान और त्राण में तत्पर रहें।

मार्जनमन्त्र

(निम्नलिखित आर्ष वाक्यों से मध्यमा और अनामिका अंगुलियों के

1. मार्जन किया किस प्रकार की जाये इसके लिये पिछले पृष्ठों का अवलोकन करें।

अग्रभाग से नेत्रादिअंगों पर जल छिड़कें[1])

ओ३म् भू: पुनातु शिरसि। ओ३म् भुव: पुनातु नेत्रयो:। ओ३म् स्व: पुनातु कण्ठे। ओ३म् मह: पुनातु हृदये। ओ३म् जन: पुनातु नाभ्याम्। ओ३म् तप: पुनातु पादयो:। ओ३म् सत्यं पुनातु पुन: शिरसि। ओ३म् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।।

(प्राणों से हे प्यारे भगवन।
सिर् को करो पवित्र निस् दिन।।
दुखविनाशक दीन् दयाला।
आंखों में रहे ग्यान उजाला।।
सर्वव्यापक सुख के दाता।
करो पवित्र कण्ठ विधाता।।
महाप्रभु तुं ईश हमारे।
हिर्दय करो पवित्र प्यारे।।
करो पाल्ना जगद् बना कर।
नाभि मेरी करो पवितर।।
डं-दाता प्रभु ग्यान भण्डारा।
रहे पवित्र मार्ग हमारा।।
सत्यस्वरूप अविनाशीश्वर।
पुन: पवित्र हो मेरा सर।।
महा-प्रभु सर्वत्र व्यापक।
करो पवित्र बुद्धि आदक।।)

(ओ३म्+भू:) सदा एक रस रहने वाला भगवान् (शिरसि)

सिर में, मस्तिष्क में (पुनातु) पवित्रता दे। (ओ३म् + भुवः) सदा सर्वज्ञ, सबको ज्ञानदान करने वाला भगवान् (नेत्रयोः) आंखों में (पुनातु) पवित्रता दें। (ओ३म्+स्वः) सदा आनन्दमय, सबको आनन्द देने बाला भगवान् (कण्ठे) कण्ठ में (पुनातु) पवित्रता करे (अर्थात मेरे वचन लोगों को आनन्द देने वाले हों)। (ओ३म् + महः) सब से महान् भगवान् (हृदये) हृदय में (पुनातु) पवित्रता दे (अर्थात् हृदय में ईर्ष्या-द्वेष, ऊंच-नीच आदि के भाव न उठें)।

(ओ३म+जनः) सर्वोत्पादक भगवान् (नाभ्याम्) नाभी में, जननशक्ति में (पुनातु) पवित्रता दे (अर्थात् मेरी जननशक्ति किसी भी अपवित्र कार्य में व्यय न हो) (ओ३म्+तपः) सबको तपाकर कुन्दन बनाने वाला भगवान् (पादयोः) पैरों में शरीर रूपी भबन के आधार में (पुनातु) पवित्रता दे (अर्थात् मैं कहीं पाप के लिये न जाऊं)। (ओ३म् + सत्यम्) त्रिकालाबाधित, सत्यस्वरूप भगवान् (पुनः) फिर से, बारबार (शिरसि) सिर में (पुनातु) पवित्रता दे (अर्थात् मेरे विचार व्यवहार पवित्र हों)। (ओ३म्) खं ब्रह्म) आकाश से महान् सबसे अधिक ज्ञानवान्, सर्वतो महान्, आनन्दवान्, सब में व्यापक भगवान् (सर्वत्र) शरीर के सब अंगों-प्रत्यंगों मन और आत्मा में (पुनातु) पवित्रता दें।

सिर में दो बार पवित्रता की प्रार्थना का विशेष प्रयोजन है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आने वाला ज्ञान सिर में संग्रहीत होता है, और सिर से निकले विचारों के अनुसार कर्म्मेन्द्रियें कार्य करती हैं। सिर के इस दोहरे कार्यव्यापार के कारण सिर की पवित्रता के लिये दो बार प्रार्थना की गई है।

---

1. महर्षि दयानन्द ने पंचमहायज्ञ विधि नामक अपने ग्रन्थ में मनसा परिक्रमा मन्त्रों से पूर्व प्राणायाम के सम्बन्ध में निम्न पंक्तियां लिखी हैं-

प्राणायाम मन्त्र

(निम्नलिखित मन्त्र का मन में पाठ करते हुए कम से कम तीन प्राणायाम[1] करें।)

ओ३म् भूः। ओ३म् भुवः। ओ३म् स्वः। ओ३म् महः।
ओ३म् जनः। ओ३म् तपः। ओ३म् सत्यम्।।

(तैत्ति. आ. प्रपा. 10 अनु. 27)

(प्राणसरूप प्राणों से प्यारे।
दु:ख दूर सब करने हारे।।
सर्वव्यापक आनन्ददाता।
सर्वोत्कृष्ट जगत्पितामाता।।
दुषटों को दण्ड देने हारे।
सब की ही सुध लेने हारे।।
अविनाशी तुं अजर्-अमर् हो।
सत्सरूप दयासागर हो।।)

'भूः' आदि व्याहृतियों के अर्थ मार्जन के आर्ष वाक्यों के अर्थों में देखने चाहिये। 'भूः', 'भुवः', 'स्वः', ये तीन महाव्याहृति कहलाते है। शेष केवल व्याहृति कहलाते हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या 'सन्ध्याप्रकाश' में की जायेगी। यहां केवल एक छोटी सी किन्तु महत्त्वपूर्ण बात बतला देना चाहते हैं। 'भूः', 'भुवः', स्वः' का समुदित अर्थ है ''सच्चिदानन्द भगवान्''। भगवान के इस स्वरूप का भान होने के साथ उसके 'महः' (महान्) होने का

''इस प्रकार प्राणायाम करके अर्थात् भीतर के वायु को बल से नासिका के द्वारा बाहर फेंक के यथाशक्ति बाहर ही रोक दें। पुनः धीरे-धीर

ज्ञान होता है। उसके साथ उसके 'जन:' (उत्पादक होने का ज्ञान होता है। इसके साथ ही उसके 'तप:' (कर्म-फल-प्रदाता) होने का भी ज्ञान होता है। (जो सबसे महान् है वह उत्पादक हो सकता है और वह ही व्यवस्थापक अर्थात् पालक और संहारक भी; जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहति जीवों को कर्मफल देने के लिए होती है। इस प्रकार संसार भट्ठी में भगवान् जीवों को तपाकर उन्हें मोक्षपद का अधिकारी बना देता है, इसी से भगवान् 'तप:' कहलाता है।) सृष्टि, स्थिति आदि का कार्य सदा होता रहता है, अत: उसका कर्त्ता 'सत्य' है; अपने नियमों का उल्लंघन न करने वाला अर्थात् पक्षपाती नहीं है।

भीतर लेके, पुन: बल के बाहर फेंक के रोकने से आत्मा और मन को स्थिर करके आत्मा के बीच में जो अन्तर्यामी रूप से ज्ञान और आनन्द स्वरूप व्यापक परमेश्वर है उसमें अपने आपको मग्न करके, अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। जैसा गोताखोर जल में डुबकी मार के शुद्ध हो के बाहर आता है वैसे ही सब जीव लोग अपने आत्माओं को शुद्धज्ञानआनन्द स्वरूप व्यापक परमेश्वर में मग्न करके नित्य शुद्ध करें''।

सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास के आरंभ में भी प्राणायाम के सम्बन्ध में महर्षि इस प्रकार लिखते हैं:-

''जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्नजल बाहर निकल जाता है वैसे प्राण को बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रखे तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके फिर भी वैसे ही करता जाये, जितना सामर्थ्य

और इच्छा हो, और मन में 'ओ३म्' इसका जप करता जाये इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।

एक 'ब्राह्य' अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा ''आभ्यन्तर'' अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाये उतना रोक के। तीसरा ''स्तम्भवृत्ति'' अर्थात् एक ही बार जहां का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा ''बाह्याभ्यन्तरापेक्षी'' अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उससे विरुद्ध न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाये। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें तो दोनों की गति रुक कर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियां भी स्वाधीन होते हैं, बल पुरुषार्थ बढ़ कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्मविषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा।''

----

1. 'अघ' का अर्थ 'पाप' होता है और 'मर्षण' का अर्थ 'दूर करना' है। अत: 'अघमर्षण' का अर्थ पाप को दूर करना' हुआ।'

----

1. अभीद्धात् =अभि+इद्धात् (इन्ध दीप्तौ रुधादिगण से क्त- प्रत्ययान्त)
2. 'तपस:' 'तपस्' शब्द से पञ्चमी विभक्ति का एक वचनान्त रूप है। 'तपस्' शब्द 'तप ऐश्वर्ये' (दिवादिगण) इस धातु से निष्पन्न हुआ।

अघमर्षण[1] मन्त्राः

ओ३म् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसो ऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।।
ओ३म् समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।।
ओ३म् सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।।

(ऋ0. 10/190/1-3)

(अपनी सत्ता से पर्मेश्वर।
प्रकृति से जगद् बनाकर।।
ग्यान् दिया जग् गुरु कहलाया।
वेदों का परकाश फैलाया।।
जीव वृक्ष पृथ्वी के अन्दर।
नग् नदियां रचे समुन्दर।।
जिस सत्ता से जग् उपजावे।
उसी से जग् में प्रले लयावे।।
जगत् को वश् में रखने वाले।
परमेश्वर के खेल् निराले।।
रात बनाई दिवस् बनाया।
काल को हिस्से कर दिखलाया।।
चांद सूर्य भूमण्डल तारे।

लोक लोकान्तर रच के सारे।।
नियम रखे इन्में भी ऐसे ।
थे पहले कलपों में जैसे।।)

भगवान् के (अभीद्धात्)[1] सर्वत्र प्रकाशमान (तपसः)[2] ज्ञानरूपी तपसे (ऋत[3] च सत्य[4] च) ऋत और सत्य (अधि +अजायत) उत्पन्न होते हैं। (ततः) उसी से (रात्री)[5] सर्व सुखदात्री प्राकृत सामग्री (अजायत) उत्पन्न होती है। (ततः) उसी से (अर्णवः समुद्रः) सब सृष्टि बीजों का भण्डार सर्वत्र प्रसृत प्राकृत तत्व (आजायत) उत्पन्न होता है, व्यक्त होता है। (अर्णवात् समुद्रात्) सब सृष्टि बीजों के भण्डारभूत सर्वत्र प्रसृत प्राकृत तरल तत्त्व (महत्तत्त्व) से (संवत्सरः)[6] 'सब के बसने योग्य जगत् (अधि +अजायत) उत्पन्न होता है। वह (अहोरात्राणि) दिन रात=प्रकाश और अप्रकाश का (विदधत्) निर्माता (मिषतः)[7] चेष्टा करने वाले, गतिशील (विश्वस्य) विश्व को, संसार को (वशी) वश में रखने वाला, नियम व्यवस्था एवं नियन्त्रण में रखने वाला (धाता) जगद्विधाता, परमात्मा (सूर्याचन्द्रमसौ)सूर्यो चन्द्रों, स्वतः प्रकाश परतः प्रकाश लोकों को (च) और (दिवम्) द्यौ लोक को (च) और (पृथिवीम्) पृथिवी लोक को (च) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (द्यौ और पृथिवी के अन्तराल में

---

3. '' ऋ गतिप्रापणयोः'' (भ्वादिगण) से 'ऋत' शब्द जिसका अर्थ 'ज्ञान' (सृष्टि नियम) है उत्पन्न होता है।
4. 'सत्य' से यहां प्रकृति अभिप्रेत है जिसकी हस्ती निरन्तर रहती है।
5. रात्रि शब्द 'रा दाने' (अदादिगण) से बना है। क्योंकि प्राकृत सामग्री जीवों को सुख देती है अतः उसे 'रात्री' कहा गया है।

वर्तमान वायु, मेघ, विद्युत आदि के आधार स्थान) को (अथो) तथा (स्वः) मोक्षानन्द को (यथापूर्वम्) सनातन नियम के अनुसार (अकल्पयत्) समर्थ करता है, बनाता है।

---

6. 'सम्वत्सरः' शब्द सम्-पूर्वक 'वस निवासे' (भ्वादिगण) से बना है।
7. 'मिषतः' शब्द 'मिष निमेषे' तुदादिगण से बना है।

'अजायत' क्रियापद के साथ 'अधि' उपसर्ग इस भाव को प्रकट करता है कि यह सारा जहान और उसकी उत्पत्ति का सामान भगवान् में ही रहता है। उससे बाहर नहीं और अत एव सदा उसके अधिकार में रहता है। इस महान् जहान के रचयिता भगवान् का ध्यान और मनन मनुष्य को पाप से हटाता है। वेद (ऋ. 4/23/8) में भी कहा है '**ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति**'। ''ऋत का मनन और अध्ययन पापों को मार देता है।''

पुनः आचमन

(इसके पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र से पुनः तीन बार आचमन करें)

ओ३म् शन्नों देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्त्रवन्तु नः।।[1]

(यजु. 36/12)

यहां आचमन विधान के पश्चात् परमर्षि ने लिखा है ''**ततो गायत्र्यादि-मन्त्रार्थान् मनसा विचारयेत्। पुनः परमेश्वरेणैव सूर्यादिकं सकलं जगद्रचितमिति परमार्थ- स्वरूपं ब्रह्म चिन्तयित्वा परं ब्रह्म प्रार्थयेत्**''। अर्थात् इसके पश्चात् गायत्री आदि मन्त्रार्थो का मन से विचार करें और 'यह समस्त सूर्यादिरूप जगत् परमेश्वर ने ही रचा है' इस प्रकार परमात्मा के परमार्थ स्वरूप का चिन्तन करके ब्रह्म से प्रार्थना करें।

इस वाक्य को देखकर कई सज्जन यह समझते हैं कि यहां गायत्री आदि मन्त्रों का पुनः पाठ और अर्थ विचार करना चाहिये और वे सज्जन ऐसा करते भी हैं। हमारे विचार में उनका ऐसा करना एवं समझना भूल है। शिखा बन्धन करने के लिये पठित गायत्री मन्त्र से समंत्रक प्राणायाम तक सब क्रिया ही क्रिया है। शिखाबन्धन क्रिया, आचमन क्रिया, इन्द्रियस्पर्श क्रिया, मार्जन क्रिया और प्राणायाम भी क्रिया है। मन एक समय में एक ही कार्य कर सकता है। जब मन क्रिया में रत है तो वह विचार से विरत होता है। अतः इन सारी क्रियाओं के करने के बाद इन क्रियाओं के भाव का भी विचार करना चाहिये। क्योंकि सन्ध्या तो ध्यान- विचार की वस्तु है। अत एव ऋषि ने अघमर्षण मन्त्रों के भाव का विचार करना भी यहाँ लिख दिया।

---

1. मन्त्रार्थ के लिये पिछले पृष्ठों का अवलोकन करे।

मनसा परिक्रमा

ओ३म् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।।1।।

(अ. 3/27/1)

(ग्यानमय बन्धन से न्यारा।
संमुख् रहता अपरम्पारा।।
महाराज् अधिराज् स्वतन्तर।
सूरज की किरणों के द्वारा।
पृथवी का जीवन आधारा।।
दयामय दातार धयावें।
बार बार तेरे गुण गावें।।
जो अग्यान से देवें कलेश।
या जिनसे हं करें दवेश।।
हे न्यायकारी ईश हमारे।
वश में सौंपें उसे तुम्हारे।।)

(प्राची दिक्) पूर्व की = सामने की दिशा है। (अग्नि)[1] (सबको आगे ले जाने वाला, प्रकाशकों का प्रकाशक (अधिपतिः) स्वामी है।

---

1. 'अग्निः अग्रणीर्भवति' इति, निरुक्त (7/ ।4/4)
2. 'सि बन्धने' (स्वादि तथा क्रयादि गण) से 'सितः' शब्द सिद्ध होता है। ''न सितः= असितः'' (बन्धनरहित)।
3.''आदित्यः कस्मादादत्ते रसान्'' इति, निरुक्त (2/13/3)।

(असितः)[2] बन्धन-रहित भगवान् (रक्षिता) रक्षक है और (आदित्याः)[3] सूर्य की किरणें अथवा प्राण (इषवः) बाण हैं (मानो वे कहते हैं, इधर भी भगवान् विराजमान हैं) अतः (तेभ्यो) उन (अधिपतिभ्यः) भगवत्-शक्तियों के निमित्त से (नमः) भगवान् को नमस्कार (रक्षितृभ्यः) असित रक्षक की निर्बन्ध रक्षिका शक्तियों के निमित्त से (नमः) भगवान् को प्रणाम और (एभ्यः) इन(इषुभ्यः) बाणों के वारणबल के कारण (नमः+नमः) बार बार नमस्कार (अस्तु) हो। (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है, अप्रीति करता है (यम्) जिसको (वयम्) हम (द्विष्मः) प्रेम नहीं करते (तम् उसको (वः) तुम्हारे - इन बाण प्राण आदि के (जम्भे) वश में (दध्मः) करते हैं। **(अर्थात् कानून को हाथ में न लेकर ऐसा उपाय करते हैं जिससे वह अनर्थ से हटकर हमारा मित्र बन जाये और हम उसके प्रेमी बन जायें)।**

ओ३म् दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।।2।।

(अ. 3/27/2)

---

1 इन्द्रः=''इन्दतेः वा ऐश्वर्यकर्मणः'' निरुक्त (10।8।11) अर्थात् 'इदि परमेश्वर्ये')भ्वादिगण) से 'इन्द्र' शब्द बनता है।
2. तिरश्चिराजी= तिरश्चि+आ+अजी (अज गति क्षेपणयोः भ्वादिगण के धातु से) अर्थात् ''तिरछी गति वाला।''
3. 'पृ पालनपूर्णयोः' (जुहोत्यादिगण) से 'पितरः' शब्द सिद्ध होता है।
4. मन्त्र के उत्तरार्द्ध के अर्थो के लिये 'मनसा परिक्रमा' के प्रथम मन्त्र का भाषार्थ देखें।

(हे भगवान् दक्षिण में सारा।
महाराज है राज तुम्हारा।।
कूड–गति जीवों से ईश्वर।
सब् की रक्षा करो निरन्तर।।
ऋषि मुनियों विद्वानों द्वारा।
देते हमको ग्यान अपारा।।
दयामय दातार धयावें।
बार बार तेरे गुण गावें।।
जो अग्यान् से देवें कलेश।
या जिनसे हं करें दवेश।।
हे न्यायकारी ईश हमारे।
वश में सौंपें उसे तुम्हारे।।)

(दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा है। (इन्द्रः) शक्तिशाली, ऐश्वर्यसम्पन्न[1] भगवान् (अधिपतिः) स्वामी है। (तिरश्चिराजी)[2] छिपकर गति कराने के कारण प्रकट होने वाला भगवान् (रक्षिता) रक्षक है (अर्थात् यद्यपि भगवान् दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है तथापि वह गुप्त होता हुआ भी रक्षक है और अपनी इस रक्षा के कारण प्रकट और प्रकाशमान है)। (पितरः)[3] वायुएं, वृष्टि आदि लाने वाली हवायें (इषवः) बाण हैं।[4]

---

1. सब द्वारा वरण किया जाने वाला। 'वृञवरणे' (स्वादिगण) से 'वरुण' शब्द बनता है।

2. 'पृ पालनपूर्णयोः' (जुहोत्यादि.) और 'अक कुटिलायां गतौ' (भ्वादि.) इन दोनों के मेल से 'पृदाकु' शब्द बनता है।

3. मन्त्र के उत्तरार्द्ध के अर्थों के लिये 'मनसा परिक्रमा' के प्रथम मन्त्र का भाषार्थ देखें।

ओ३म् प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।।3।।

(अ; 3/27/3)

(हे सुन्दर् अनूप सरूपम।
महाराज तेरा ही पश्चिम।।
बल्धारी जो पशु भयंकर।
इन् से रक्षा करो निरन्तर।।
अन्नदाता अन्न ही के द्वारा।
रकषा पाता प्राण हमारा।।
दयामय दातार धयावें।
बार बार तेरे गुण गावें।।
जो अग्यान् से देवें कलेश।
या जिन से हं करें दवेश।।)
हे न्यायकारी ईश हमारे।
वश में सौंपें उसे तुम्हारे।।)

(प्रतीची दिक्) पश्चिम अथवा पीठ पीछे की दिशा है। (वरुणः)[1] अन्तर्यामी, पापनिवारक भवनान् (अधिपतिः) स्वामी है। (पृदाकुः)[2] पालन करने के साथ गतिदाता विधाता (रक्षिता) त्राता है।

---

1. अर्थात् ''नेति–नेति'' प्रक्रियया सूयते=निरूप्यते=परिज्ञायते य सः। 'सोम' शब्द 'षूञ अभिषवे' (स्वादिगण) इस धातु से निष्पन्न होता है।

(निरु. 11/2/2)

2. स्वजः=सु+अजः (न जायते इति अजः) अथवा (अजति=गच्छतीति अजः)

3. मन्त्र के उत्तरार्द्ध के अर्थों के लिये 'मनसा परिक्रमा' के प्रथम मन्त्र का भाषार्थ देखें।

(भगवान् केवल पालन ही नहीं करता, वरन् गति और चेष्टा भी उसी की कृपा से प्राप्त होती है)।(अन्नम्) अन्न, प्राणियों की भोगसामिग्री (इषवः) बाण समान हैं (अर्थात् किस प्रकार भगवान् सब प्राणियों को भोजन प्रदान करता है, यह विचार मनुष्य को भगवान् से छिपने और पाप करने से रोक देता है)[3]।

ओ३म् उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे-दध्मः।।4।।

(अ. 3/27/4)

(उत्तर में भी रहे विराज।
पर धन्य तुं ही महाराज।।
बिजली द्वारा देह् के अन्दर।
गति खून् की रहे निरन्तर।।
कैसी अद्‌भुत कला चलाई।
मह्मा जिसकी वर्णी न जाई।।
दयामय दातार धयावें।
बार-बार तेरे गुण गावें।।
जो अग्यान से देवें कलेश।
या जिन से हं करें दवेश।
हे न्यायकारी ईश हमारे।।
वश में सौंपे उसे तुम्हारे।।)

(उदीची दिक्) उत्तर अथवा उन्नति दशा की दिशा है। (सोमः)[1] शान्तिदायक, नेति-नेति ज्ञान का निरूप्य भगवान् (अधिपतिः) स्वामी है। (स्वजः)[2] अत्यन्त अजन्मा, उत्तमगतिदाता, भगवान् (रक्षिता) रक्षक है। (अशनिः) विद्युत= उत्तरध्रुव में छः मास के कृष्ण-अयन में प्रकाश देने वाली बिजली (इषवः) बाण है (उत्तरध्रुव में छः मास का दिन और छः मास की रात होती हे। उस रात्री के दीर्घ समय में किसी कल-कारखाने से उत्पन्न न हुई विद्युत प्रकाश करती है। वह बाण होकर भगवान् की अद्‌भुत निर्माण शक्ति का बखान करती है)[3]

ओ३म् ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।।5।।

(अ. 3/27/5)

(निच्ले लोक् और निच्ली दिशायें।
सब स्वामी तेरा यश गायें।।
देव देवी सब् तुझे धयायें।

---

1. नीचे की दिशा मनुष्य कहीं भी चला जाये एक ही रहती है अतः उसे यहाँ 'ध्रुव, कहा गया है।
2. 'विष्लृ व्याप्तौ' (जुहोत्यादिगण) से विष्णु शब्द उत्पन्न होता है। 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णु'' (सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास)
3. कल्माषग्रीवः= कल्माष+ग्रीवः। 'कल्माष' का अर्थ है 'विचित्र' और 'ग्रीवः का अर्थ है 'पकड़' अर्थात् ''विचित्रग्राहकशक्ति वाला प्रभु''। स्मरण रहे निरक्त (2/28/1) में 'ग्रह ग्रहणे' (क्रयादिगण) से 'ग्रीवा' शब्द को निष्पन्न हुआ कहा गया है।
4. प्रत्येक वस्तु छोड़ने पर नीचे की ओर जाती है। यह प्रभु की विचित्र पकड़ है कि बीजांकुर नीचे न जाकर ऊपर को उठते हैं। इसी कारण उन्हें 'वीरुध्' के नाम से यहां कहा गया है।
5. मन्त्र के उत्तरार्द्ध के अर्थो के लिये 'मनसा परिक्रमा' के प्रथम मन्त्र का भाषार्थ देखें।

तेरा ही उपकार मनायें।।
हरे साग् फल फूल उगाये।
जिस से प्राणी रकषा पाये।।
दयामय दातार धयावें।
बार बार तेरे गुण गावें।।
जो अग्यान से देवें कलेश।
या जिन से हं करें दवेश।।
हे न्यायकारी ईश हमारे।
वश में सौंपें उसे तुम्हारे।।)

(ध्रवा दिग्) ध्रुव[1] नीचे की दिशा है। (विष्णु:)[2], सर्वव्यापक भगवान् (अधिपति:) स्वामी है। (कल्माषग्रीव:)[3] विचित्र ग्राहक शक्ति, पकड़ वाला प्रभु (रक्षिता) रक्षक है। (वीरुध:)[4] नाना प्रकारक बेलें, लतायें वल्ली, गुल्म, प्रतान, पादप, वृक्ष आदि (इषव:) बाण हैं।

(जड़ प्रकृति का सामर्थ्य नहीं कि निम्ब वृक्ष के बीज के साथ उपयोगी अणु परमाणुओं को मिलाकर निम्ब बृक्ष बना दे और मधुर आम

---

1. '' बृहतामाकशादीनां स्वामी पालयिता।''
2. 'शिवत्र' शब्द शिव गतिवृद्धयो:' (भ्वादिगण) तथा 'त्रै पालने' (भ्वादिगण) इन दो धातुओं के मेल से बना है।
3. उत्तरार्द्ध के अर्थो के लिये 'मनसा परिक्रमा' के प्रथम मन्त्र का भाषार्थ देखें।

---

3. इन शब्दों का पञ्चम्यन्त होना यह ध्वनित करता है कि मनसा परिक्रमा मन्त्रों में प्रभु को नमस्कार उसकी महत्ता से संभ्रमित होकर किया जाता है ('भीत्रार्थानां भयहेतु:' अष्टाध्यायी (1/4/25)।

के बीज को उसके उपयोगी मधुर रस से भरे अवयवों को मिलाकर मधुर आम का वृक्ष बना दे। यह उस विचित्र पकड़ वाले व्यापक भगवान् की कृपा और अनुग्रह से हो रहा है)[5]।

ओ३म् ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः शिवत्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषृभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।।6।।

(अ0 3।27।6)

(ऊंची दिशा का है तू सवामी।
सकल जगत् का अन्तर्यामी।।
रंक भिखारी ते राजा राणा।
है सब ही का तू ही तराना।।
खेत पकें जब मिंह् वर्सावें।
जिससे प्राणी रकषा पावें।।
दयामय दातार धयावें।
बार बार तेरे गुण गावें।।
जो अग्यान से देवें कलेश।
या जिनसे हं करें दवेश।।
हे न्यायकारी ईश हमारे।
वश में सौंपे उसे तुम्हारे।।)

(ऊर्ध्वा दिक्) ऊपर की दिशा है। (बृहस्पति:)[1] बड़े बड़ों का पालक भगवान् (अधिपति:) स्वामी है। (शिवत्र:)[2] गति देकर रक्षा करने वाला भगवान् (रक्षिता) रक्षक है। (वर्षम्) वर्षा (इषव:) बाण

है[3]। इन मन्त्रों के नाम **'मनसा परिक्रमा' मन्त्र है। मन द्वारा आत्मा छहों दिशाओं में परिक्रमा करके विभु की विभूति का अनुभव करता है। उस अनुभव के कारण भगवान् से विमुखता के भाव का त्याग करके उसके पास जाता है। इसे उपस्थान कहते हैं। यहां आये 'अग्नि' आदि शब्दों का उस-उस दिशा के साथ क्या सम्बन्ध है इसका रहस्य 'सन्ध्याप्रकाश' में लिखा गया है।**

'तेभ्यः', 'अधिपतिभ्यः' 'रक्षितृभ्यः' 'इषुम्यः' और 'एभ्यः' ये पद पंचम्यन्त हैं चतुर्थ्यन्त नहीं।

उपस्थान मन्त्राः

ओ३म् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।।1।।

(य.35/14)

(अन्धकार से दूर दयामे।
ग्यानवान भण्डार सुखों के।।
परलय के पीछे भी बाकी।
नाश रहित हो कान गुणों की।।
आत्मदेव हो सक्ल जगत् के।
आनन्ददाता परम् भक्त के।।

1.निरुक्त 7/15/1 में 'देव' शब्द की विस्तार' पूर्वक निरुक्ति दी गई है वहां 'दीप दीप्तौ' (दिवादिगण) तथा 'द्युत दीप्तौ' (भ्वादिगण) से भी इस शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई गई है।
2. 'यजुर्वेद (7/42) में 'सूर्य' को ''आत्मा जगत-स्तस्थुषः'' अर्थात् सूर्य' यानी परमात्मा स्थावर और जंगम जगत्! का आत्मा है ऐसा वर्णित किया है।

जन्म जगत को देने वाले।
ज्योतिर्मय हं को अपनाले।।)

हे भगवन्! (वयम्) हम (उत् तमसः परि) उत्कृष्ट किन्तु अन्धकारमयी प्रकृति का परित्याग करते हुए और (उत्तरम्)उसकी अपेक्षा उत्कृष्टतर (स्वः) प्रकाश=आत्मज्योति को (पश्यन्तः) देखते हुए (देवत्रा देवम्) प्रकाशकों के प्रकाशक[1] मुक्तों के आनन्ददाता (उत्तमम्) सर्वश्रेष्ठ, उत्कृष्टतम (ज्योतिः) प्रकाश (सूर्यम्) स्थावरजंगम के आत्मा[2]= परमात्मा को (अगन्म) प्राप्त हुए हैं। **(तनिक विचार करो तो मनसा परिक्रमा से प्राप्त अनुभूति का यहां वर्णन कर दिया गया है)**

ओ३म् उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्।।2।।

(य.33/31)

(ज्योतिर्मे धन धान्य के दाता।
तेज तेरा जग् को चमकाता।।
आदि सृष्टि में यह ही चार।
वेद दिये हम को दातार।।
महमा को दरशाने वाले।

---

1. जातवेदः= 'जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः' (निरुक्त 7/19/2)
2. जातवेदः= जाते जाते विद्यते इति वा'' (निरुक्त 7/ ।9/2)

---

1. देवः- 'द्युस्थाने भवति इति वा' (निरुक्त 7/ ।9/2)
2. ''ञिमिदा स्नेहने'' (दिवादिगण) से मित्र शब्द बनता है। इसका अर्थ है 'जो सबसे प्रीति करता है' अथवा 'जिससे सब को प्रीति करनी योग्य है'

सत्य ग्यान बतलाने वाले।।
सकल वस्तु महा दरशावें।
ज्यों झण्डियां मार्ग दिखलावें।।)

(केतवः) संसार के समस्त पदार्थ मानो केतु=झंडे, सूचना देने वाले होकर (उ) निश्चय से (त्यम्) उस (देवम्) दिव्यगुणयुक्त, सर्वप्रकाशक, सर्वानन्ददायक, (सूर्यम्) चराचर के आत्मा (जातवेदसम्) वेद- प्रकाशक, सर्वज्ञ[1], प्रत्येक पदार्थ में व्यापक भगवान्[2] को (विश्वाय दृशे) सब का साक्षात् कराने के लिये (उद्+वहन्ति) उत्तम रीति से प्राप्त करा रहे हैं। **(अर्थात् जहान को जानने के लिये उसके आत्मा भगवान् को जानो, पहचानो। यह सारा जहान उस दयानिधान भगवान् का निशान है।)**

ओ३म् चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य
वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्ष ँ् सूर्यऽआत्मा
जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा।।3।।

(य. 7/42)

(यद्पि जग की सकल समग्री।
महमा है तेरी दरशाती।।

....

3. अग्रणीः= अग्निः (निरुक्त 7/14/4)
4. स्वाहा= 'सु+आह' (निरुक्त 8/21/1)

....

1. निरुक्त, (12/16/1) की टीका करते हुए दुर्गाचार्य "चक्षुः ख्यानम् इत्यर्थ" ऐसा लिखते हैं।

तुम भी हो अनन्त रंगीले।
बल्दाता अ ुत चमकीले।।
चांद सूर्य चमकाने वाले।
चराचर् जगत् बनाने वाले।।
मन् वाणी गुण कर्म सभाओं।
हे ईश्वर बलवान् बनाओ।।)

(देवानाम्)[1] सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, पृथिवी आदि पदार्थों की (चित्रम्) अ ुत (अनीकम्) सेना (उद्+आगत्) उदय हुई है= प्रकट हुई है। वह (मित्रस्य)[2] सबसे प्रीति करने वाले (वरुणस्य) वरणीय, सर्वश्रेष्ठ (अग्ने)[3] उन्नतिसाधक भगवान् का (चक्षुः) दर्शन कराने वाली है, (स्वाहा)[4] हम सत्य-सत्य कहते हैं। वह (जगतः) जंगम= गति करने वालों का और (तस्थुषः) स्थावर= गति न करने वालों का (आत्मा) जीवनाधार (सूर्यः) सर्वगति=प्रदाता, परमात्मा (द्यावा पृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक में तथा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक में (आ+प्रात्) व्यापक होकर सब की रक्षा कर रहा है।

अथवा- वह भगवान् (देवानाम्) विद्वानों का (चित्रम्) विचित्र (अनीकम्) बल (उद्+अगात्) हृदय में प्रकट होता है (अर्थात् भक्तों में जो बल दीखता है वह भगवान् का है), वह (मित्रस्य) प्राण, सूर्य तथा सर्वस्नेही मनुष्य का (वरुणस्य) सर्वोत्तम पदार्थ का और (अग्नेः) विद्युदादिरूप में प्रकाशमान् अग्नि का भी (चक्षुः)[1] प्रकाशक एवं उपदेशक है। (स्वाहा) हम
सच्चे हृदय से मानते हैं कि वह (जगतः तस्थुषः आत्मा सूर्यः द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् आप्रात्) जंगम-स्थावर का आत्मा परमात्मा त्रिलोकी में व्यापक होकर उसकी रक्षा कर रहा है।

उपस्थान के अनुष्ठान से भगवान को जीवनाधार समझा, अतः अब उससे कहते है–

ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ् श्रृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शदरः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।।4।।

(य. 36/24)

(हो आंखों की भी आंख पिताजी।
देवों के महादेव अनादि ।।
महमा देखें सौ वर्ष तक।
सुनें कीर्तन सौ वर्ष तक।।
सुख से जीवें सौ वर्ष तक।
ध्यावें ईश्वर सौ वर्ष तक।।
प्रेम लीन हों सौ वर्ष तक
सवाधीन हों सौ वर्ष तक।।
सौ वरस से ज़यादा जीवें।
ओम् नाम रस अमृत पीवें।।)

(तत्) वह (शुक्रम्) शुद्ध, पवित्र, शीघ्रकार्य- साधक (देवहितम्) चक्षुः सर्वद्रष्टा भगवान् (पुरस्तात्) सामने ही (उत्+चरत्)

....

1. 'ओम्' शब्द में तीन मात्रायें हैं: 'अ' 'उ' म्'। महर्षि दयानन्द ने (1) 'अ' से 'विराट' अर्थात् विविध जगत् का प्रकाशक; 'अग्नि' अर्थात् ज्ञानस्वरूप, पूजा करने योग्य; 'विश्व' अर्थात् सर्वव्यापक; (2) 'उ' से 'हिरण्यगर्भ' अर्थात् तेजोमय पदार्थो का आधार; 'वायु' अर्थात् बलवान्, तैजस अर्थात् तेजोमय; (3) 'म्' से 'ईश्वर' अर्थात् बलवान्; 'आदित्य' अर्थात् अखण्ड, 'प्राज्ञ' अर्थात् बुद्धिमान् लिया है।
2. 'भूः' शब्द 'भू सत्तायाम' (भ्वादिगण) से निष्पन्न हुआ ध्वनित होता है।

उत्तमता से विद्यमान् हैं। अतः उसी को ही हम (शतं) सौ (शरदः) वर्ष (पश्येम) देखें; उसके सहारे से (शतं शरदः) वर्ष (जीवेम) जियें, सांस लें। उसका ही हम (शतं शरदः) सौ वर्ष (श्रृणुयाम) गुणगान सुनें और उसी का ही (शत शरदः) सौ वर्ष (प्र+ब्रवाम) उत्तम रीति से गुणगान करें। उसकी आराधना से (शतं शरदः) सौ वर्ष अर्थात् पूरी आयु भर (अदीनाः) दीनतारहित (स्याम) हम होवें (च) और (शतात् शरदः) सौ वर्ष से (भूयः) अधिक भी उसी के दर्शन, गुणश्रवण, गुणगान अदीनता पूर्वक करें।

उपस्थान करने से भगवान् के आनन्द का भान कर उसे निरन्तर पान करने की भव्य भावना से भावित हो उसकी उपासना करने को (समीप बैठने को) तत्पर हुआ है। 'मनसा परिक्रमा' से तथा 'उपस्थान' के द्वारा मल विक्षेप एवं आवरण का नाश हो चुका है। अतः अब उपासना में कोई बाधा नहीं रही। यह उपासना ही वास्तविक सन्ध्या है। अब तक तो तैयारी ही थी।

उपासनामन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।

(य. 36/3)

....

3. 'भुवः' शब्द 'भू अवकल्पने' (चुरादिगण) से निष्पन्न हुआ ध्वनित होता है।
4. 'ओ३म्' शब्द 'अव रक्षणगतिकान्ति. ....'' (भ्वादिगण) से बना है।

....

1. गायत्री छन्द में 24 अक्षर होते हैं। किन्तु जिस छन्द में 24 से एक कम अर्थात् 23 अक्षर हों उसे 'निचृद्- गायत्री' कहते हैं।

(ओमकार प्रभु तेरा नाम।
गुण गावे संसार तमाम।।
प्राणस्वरूप प्राणों से प्यारा।
दूर दुखों को करने हारा।।
सुखस्वरूप सुखों का दाता।
अन्त न कोई तुम्हारा पाता।।
सारे जग को पैदा करता।
सबसे उत्तं पाप का हर्त्ता।।
हे ईश्वर हं तुझे धयावें।
पाप कर्म के पास न जावें।।
बुद्धि करो हमारी उज्वल्।
जीवन होवे ह्मारा निर्मल।।)

(ओ३म्)[1] ओ३म् पद वाच्य भगवान् (भूः)[2] सत् है (भुवः) चित् है[3] (स्वः)[4] आनन्द है। (सवितुः) उस सकल जगदुत्पादक, सर्वहित-उपदेशक, सबके शुभ मार्ग में प्रेरक, सर्वशासक (देवस्य) प्रकाशकों के प्रकाशक, आनन्ददाता भगवान् के (तत्) उस (वरेण्यम्) सर्वश्रेष्ठ (भर्गः) पापनाशक तेज को, परिपक्व आनन्द स्वरूप को (ध ीमहि) हम धारण करते हैं, उसका ध्यान करते हैं। (यः) जो वह भगवान् (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्र+चोदयात्) उत्तम प्रेरणा करें।

इस मन्त्र की विशेष व्याख्या 'संध्याप्रकाश में की जावेगी। यहाँ कुछ एक अतीव आवयक उपयोगी बातों का निर्देश करते हैं। इस मन्त्र का नाम गायत्री इस वास्ते है कि 'तत्सवितुः' से 'प्रचोदयात्' तक का

छन्द 'निचृद्गायत्री'[1] है। इसे गुरु-मन्त्र भी कहते हैं क्योंकि वेदारम्भ संस्कार के समय वेद का आरम्भ कराते समय आचार्य इसी मन्त्र का प्रथम उपदेश करते हैं। ऋषि लोग इसे सर्कोत्कृष्ट मन्त्र बतलाते हैं। इसका कारण है; किसी मन्त्र में उपासना, किसी में स्तुति-प्रार्थना, किसी में स्तुति-उपासना तथा किसी में प्रार्थना-उपासना है, किन्तु यह एक ऐसा मन्त्र है जिसमें स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना-तीनों हैं। 'ओ३म्' भूर्भुवः स्वः' स्तुति है। स्तुति का अर्थ है गुणगान। गुण- कथन से अपनी न्यूनता का भान होता है स्तुति से प्रतीत हुआ कि हम में आनन्द नहीं है, वह आनन्द भगवान् से मिल सकता है क्योंकि वह 'स्वः' आनन्द है। अतः आनन्द की प्राप्ति के लिये उसकी उपासना 'तत्सवितुः...........धीमहि' से करते हैं। भगवान् का तेज=आनन्द प्राप्त किया, वह हमारे प्रमादादि के कारण हम से दूर न हो जाये अतः 'धियोः ....' से प्रार्थना करते हैं। किसी के गुण प्राप्त करने की भावना से उसका संग करने को उपासना कहते हैं। उस गुण की प्राप्ति की उत्कट भावना को प्रार्थना कहते हैं। सारे ऋषि-मुनि 'ओ३म्' को भगवान् का निज नाम बतलाते हैं। इसके प्रमाण तथा इसकी व्याख्या ''सन्ध्याप्रकाश'' में दी जायेगी। किन्तु एक अकाट्य युक्ति यहाँ देते हैं। यह मानव तन भगवान् से मेल कराने और उसके गुणगान के लिये है, जैसा कि यजुर्वेद (अ. 4 म. 13) में मनुष्य को कहा है- **'इयं ते यज्ञिया तनूः'**= यह तेरा तन भगवान् से मिलने के लिये है। गूंगा मनुष्य भगवान् का नाम ग्रहण नहीं कर सकता; 'राम', 'रहिमान' 'गॉड' आदि किसी नाम का उच्चारण नहीं कर सकता। किन्तु 'ओ३म्' का उच्चारण वह भी कर सकता है। भगवान् का नाम ऐसा चाहिये जिसे सभी मनुष्य बोल सकें।

'ओ३म्' ऐसा ही नाम है। अतः यह उसका निज नाम है।

ऋषि लोग गायत्री मन्त्र के जप का आदेश करते हैं। जप का फल एकाग्रता बताया जाता है। केवल बार-बार पढ़ने से एकाग्रता आती नहीं, अतः यहाँ जप की अत्यन्त सरल एवं उपयोगी विधि लिखी जाती है। जप करते हुए कल्पना कीजिये कि जब हम '**सवितुः**' पद पर पहुँचते हैं तब हमारा मन कहीं अन्यत्र चला जाता है। अब हमें अगला पद न बोलकर फिर 'ओ३म्' से आरंभ करना चाहिये। यह हो सकता है कि पहले एक दो दिन दो-दो घण्टे बैठकर मन्त्र का एक पाठ भी पूरा न हो किन्तु विश्वास रखिये, रस अधिक मिलेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जप जिह्वा को हिलाये बिना करना है। कान और ध्यान जिह्वा हिलाये बिना जप में लगे रहने चाहिये।

समर्पण

भगवान् से इतना महान् दान प्राप्त कर जब कुछ बदले में देने की बारी आई तब अपनी दरिद्रता सामने आई, सब कुछ उसी का दिया ज्ञात हुआ। अतः अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्ति से अपना आपा समर्पण करने की भावना जागृत हुई और उससे कहाः-

हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपया अनेन जपोपसनादिकर्मणा
धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः।

(दयानिधे हे ईश्वर प्यारे।
जित्ने हैं शुभ कर्म हमारे।।
हों अर्पण वे कर्म तमामी।
तेरे शुभ चरणों में स्वामी।।

होवे प्रापत भगति तेरी।
सत्य धर्म में प्रीति घनेरी।।
धर्म अर्थ और काम् हमारे।
मोक्ष आदि पदारथ चारे।।
इन की सिद्धि प्रापत होवे।
जन्म मरण के कष्ट को खोवे।।)

हे दयालो! ईश्वर! आप की कृपा से इस जप उपासना-आदि कर्म के द्वारा हमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो।

नमस्कार मन्त्र

ओ३म् नमः शम्भवाय च मयोभवाय च, नमः शंङ्कराय च
मयस्कराय च, नमः शिवाय च शिवतराय च।।

(य. 16/41)

नमस्कार कल्याण स्वरूप।
नमस्कार हो प्रभु अनूप।।
नमस्कार हो सुखों के दाता।।
नमस्कार हो ईश विधाता।।
नमस्कार हो शान्ति- भण्डारो।
नमस्कार सौ बार हमारा।।

(शम्भवाय) शान्ति-स्वरूप भगवान् को (नमः) नमस्कार हो (च) और (मयोभवाय) सुखस्वरूप भगवान् को (च) भी नमस्कार हो। (शंङ्कराय) शाँति करने वाले भगवान् को (नमः) नमस्कार हो (च) और (मयस्कराय) सुखकारी भगवान् को (च) भी नमस्कार हो।

(शिवाय) सर्वथा मंगलमय (च) और (शिवतराय) सर्वाधिक मंगलमय भगवान् को (च) भी (नमः) नमस्कार हो। 'नमः' के अनेक अर्थ हैं। उनमें से एक है दूसरे को अपने से उत्कृष्ट जानकर अपने आप को उसके हवाले कर देना।

इस मन्त्र में एक अतीव उत्तम कल्याणकारी उपदेश है। भगवान् शम्भु है और केवल शम्भु ही नहीं शंकर भी है। मनुष्य भी शम्भु होकर अपना तथा पराया कल्याण करता हुआ शंङ्कर हो सकता है। तब बताया भगवान् शिव है, भगवान् सदा दूसरों का कल्याण करता है। जगन्निर्माण तक में उसका कोई प्रयोजन नहीं है। अत एव वह शिवतर है। जब इस प्रकार अपना आपा भगवान् के अर्पण कर दिया तब बदले में भगवान् से प्राप्त होती है–

'ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः'।।

शारीरिक शान्ति, मानसिक शान्ति, तथा आत्मिक शान्ति; एवं वैयक्तिक शान्ति, पारिवारिक शान्ति, तथा जागतिक शान्ति; आधिभौतिक शान्ति, आधिदैविक शान्ति तथा आध्यात्मिक शान्ति।

।।ओ३म् शम्।।

'वैदिक विनय'

(1)

ओ३म् शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः।।

(ऋ. 1/90/9)

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप! हे नित्यशुद्धबुद्ध मुक्त–स्वभाव! हे अद्वितीय अनुपम जगदादिकारण! हे अज निराकार सर्वशक्तिमन् न्यायकारिन्! हे जगदीश सर्वजगदुत्पादकाधार! हे सनातन सर्वमंगलमय सर्वस्वामिन्! हे करुणाकर अस्मत्पितः परमसहायक! हे सर्वानन्दप्रद सकल दुःखविनाशक! हे अविद्यान्धकार निर्मूलक विद्यार्कप्रकाशक! हे परमैश्वरर्यदायक साम्राज्यप्रसारक! हे अधमोद्धारक पतितपावन मान्यप्रद! हे विश्वविनोदक विनयविधिप्रद विश्वासविलासक! हे निरञ्जन नायक शर्मद नरेश निर्विकार! हे सर्वान्तर्यामिन् सदुपदेशक मोक्षप्रद! हे सत्यगुणाकर निर्मल निरीह निरामय निरुपद्रव दीनदयाकर परमसुखदायक! हे दारिद्रय–विनाशक निर्वैरविधायक सुनीतिवर्द्धक! हे प्रीतिसाधक राज्यविध ायक शत्रुविनाशक! हे सर्वबलदायक निर्बलपालक! सुधर्मसुप्रापक! हे अर्थसुसाधक सुकामवर्द्धक ज्ञानप्रद! हे सन्ततिपालक धर्मसुशिक्षक रोग–विनायक! हे पुरुषार्थ प्रापक दुर्गुणनाशक सिद्धिप्रद! हे सज्जनसुखद दुष्टसुताडन गर्वकुक्रोधकुलोभविदारक! हे परमेश परेश परमात्मन परब्रह्मन्! हे जगदानन्दक परमेश्वर व्यापक सूक्ष्माच्छेद्य! हे अजरामृताभय निर्बन्धनादे! हे अप्रतिमप्रभाव निर्गुणातुल विश्वाद्य विश्वविन्द्य विद्वद्विलासक

इत्याद्यनन्तविशेषणवाच्च! हे मंगल प्रदेश्वर! आप सर्वथा सब के निश्चित मित्र हो, हम को सत्यसुखदायक सर्वदा हो। हे सर्वोत्कृष्ट स्वीकरणीय वरेश्वर! आप 'वरुण' अर्थात् सब से परमोत्तम हो, सो आप हम को परमसुखदायक हो। हे पक्षपातरहित धर्मन्यायकारिन् आप '**अर्यमा**' यमराज हो, इससे हमारे लिये न्याययुक्त सुख देने वाले आप ही हो। हे परमैश्वर्यवन् 'इन्द्र' ईश्वर! आप हम को परमैश्वर्ययुक्त शीघ्र स्थिरसुख दीजिये। हे महाविद्य, वाचोऽधिपते बृहस्पते परमात्मन्! हम लोगों को '**बृहत्**' सबसे बड़े सुख को देने वाले आप ही हो। हे सर्वव्यापक अनन्तपराक्रमेश्वर विष्णो। आप हम को अनन्त सुख देओ, जो कुछ माँगंगे सो आप से ही हम लोग मांगेंगे। सब सुखों का देनेवाला आप के बिना कोई नहीं है। सर्वथा हम लोगों को आपका ही 'आश्रय है अन्य किसी का नहीं, क्योंकि सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयामय सबसे बड़े पिता को छोड़ के नीच का आश्रय, हम लोग कभी न करेंगे। आप का तो स्वभाव ही है कि अंगीकृत को कभी नहीं छोड़ते सो आप सदैव हम को सुख देंगे यह हम को दृढ़ निश्चय है।

(अर्याभिविनय से उद्धृत)

(2)

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंल्पमस्तु।।

(यजु. 34/1)

हे चेतनों के चेतन, सर्वज्ञ, सदा जागरूक प्रभो! हम भ्रान्ति के

वश, तमोगुण से अभिभूत होकर निद्रा के अधीन हो जाते हैं। सर्वरक्षक प्रभो! यदि तेरी कृपा न हो और तू उस दशा में हमारी रक्षा न करे तो हम असहायों का जीवन समाप्त हो जाये। तेरी जागरूकता के कारण हमारी केवल रक्षा ही नहीं होती वरन् हमें सुषुप्तिसुख, जो तेरे आनन्द की झलक देता है; प्राप्त होता है। परमेश्वर! तेरी ही दया से हमें फिर जागने का अवसर तथा सामर्थ्य प्राप्त होता है। निष्प्रमाद प्रभो! अपनी दया से हमें प्रमादरहित, जागरूक एवं सावधान बना। हे दिव्यगुणकर्मस्वभाव वाले अन्तरात्मन् परमात्मन्! हे महतो महीयन् भगवन् प्रभो! मुझे अपनी अशक्ति, असमर्थता पग-पग पर भासित हो रही है। प्रभो! मन को आपने मेरा सेवक बना कर दिया किन्तु यह तो मुझसे विमुख हो गया है, अथवा अज्ञान और प्रमाद के कारण मैंने इसे कुपथगामी कर दिया है। भगवन्! सोने की दशा में क्या कहूं, यह तो जागते समय भी अनेक बार जाने कहां चला जाता है दयानिधान मेरे भगवान्! आपने इसे मेरी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बना कर मुझे दिया किन्तु यह मेरे वश में नहीं रहा। यह जागृत अवस्था में अंड-बंड विचारों में लीन हो जाता है, फिर स्वप्न में भी वैसे दृश्य दिखाता है। दातः! यह तेरा दान है, अतः तू ही इसे सुधार। तू ही इसे भलाई में लगा। प्रभो! तेरे भक्त इसके द्वारा विचित्र कर्म करते हैं, लोकहित साधते हैं, उनका तो यह मन पुजारी बन जाता है और मेरा यह बनता है 'पूजा- अरि'। कैसे इसे तेरे पथ पर लाऊं? मेरा यह अन्तःकरण, मेरा यह ज्ञान साधन, मेरी चिन्ता का कारण, मेरी सत्ता का धारण, यह मन सुमार्गस्थ हो तो सब सुकर्मों का सुसाधक बन जाता है। निस्संदेह इसके सहयोग के बिना कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकती।

स्वामिन्! कृपा करो, यह मेरा मन शुभज्ञान, शुभचिन्तन और शुभध्यान से सम्पन्न हो। दयालो! तेरा कितना धन्यवाद करूँ? तूने मुझे इसके कारण अद्भुत शक्तिशाली बना दिया है। मेरी क्रिया- अतीत-क्रिया- का यह संस्कार रूप में संग्रह रखता हैं। उसके आधार से मेरे वर्तमान का विधान हो रहा है। वर्तमान के अनुसार भविष्यत् का निर्माण हो रहा है, यह जीवन यज्ञ का नायक है, रक्षक! कहीं यह मेरे यज्ञ को, अध्वर को दूषित न कर दे, ध्वस्त न कर दे; कहीं मेरे बिगड़े अतीत के कारण मेरा वर्तमान और भविष्यत् भी अन्धकारमय और विकृत न हो जाये। अतः प्रभो! तुझसे विनीत प्रार्थना है कि इसे अपनी ओर खींच। सचमुच, भगवान्! यह बड़ा पण्डित है। चारों वेदों को यह धारण कर लेता है। किन्तु साक्षर ही प्रायः राक्षस होते हैं। मेरा यह मन साक्षर ही रहे, राक्षस न बने। यह तेरी कृपा के बिना संभव नहीं, अतः तुझी से प्रार्थना है। मेरे इन्द्रियरूपी घोड़े विषय घास की ओर दौड़ पड़ते हैं, इससे मेरे रथ के पापगर्त्त में गिरने का त्रास मुझे सताने लगता है। यह मन सारथि मतवाला हो उठता है। तब सर्वनाश सामने दीखता है। प्रभो! तेरी कृपा से अत्यन्त वेगवान् और उपद्रवी मन शान्त और सुशील बन जाये। यह उत्तम चतुर कोचवान की भांति हमें लक्ष्य पर ले चले, इन्द्रियों को बिदकने न दे। तेरी कृपा से यह मेरा मन मेरा हो कर तेरा हो जाये और तेरा होकर मेरा मार्गदर्शक बन जाये।

(3)

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

(यजु. 30/3)

हे परमदेव परमात्मन्! चराचर के उत्पादक धारक पालक! स्थावर जंगम्, जड़ चेतन, चराचर विश्वब्रह्माण्ड के स्वामिन्! सब को शुभ प्रेरणा देने वाले! सब को सुमार्ग दिखाने वाले, सर्वहितकारिन् मंगलमूल प्रभो! भवशूलनिर्मूलकारिन्! हममें अनेक त्रुटियों, न्यूनताओं, दुर्बलताओं, दुर्विचारों, दुष्ट आचारों के कारण हमारी बहुत ही दुर्दशा एवं दुर्गति हो रही है। हे दुर्बलों के बल, प्रबलों से भी प्रबल! हे अधमोद्धारक! हे पतितपावन भुवनभावन! आमंगलहारिन्! दुख- निवारक विभो! इस दुःखद दशा से तुम ही हमारा उद्धार कर सकते हो। तुम तो अकारण कृपालु हो, हमारा निस्तारा करो। इस पापपंक से हमारा उद्धार करो। ऐसी कृपा करो कृपालो! कि हम सकल दुर्व्यसनों से एवं दुरितसाधनों से रहित हो जायें। हे शुभदातः। सुखविधातः। अपनी अपार करुणा से हमें अभद्र से दूर रख कर भद्र से, शुभ से, सर्वहित से, मंगल से अलंकृत कीजिये, अपनी कृपा का पात्र आप ही बनाने की कृपा कीजिये। नाथ! आप की कृपा के बिना कैसे होगा जीवन पार! महादानी! कृपा का एक कण, केवल एक कण प्रदान कीजिये।

(स्वाध्याय संग्रह से उद्धृत)

(4)

ओ३म् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो, भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम।।

(यजु. 40/16)

हे परमात्मन्! सब के अन्तरात्मन! मेरा क्या लक्ष्य है, मुझे कहां जाना है, इसका पूर्ण ज्ञान मुझको नहीं है। इसे तू ही पूर्णतया जानता है इसका मार्ग भी तू जानता है। मैं तो अज्ञ हूं, निपट मूर्ख हूं। मैं चलने से डरता हूं कि कहीं भटक न जाऊं, कहीं मार्ग न भूल जाऊं। तू मार्गदर्शक है। तू पथिकृत् कहाता है। तू सब को आगे ले जाता है। मुझे भी मार्ग बता, तू मेरे लिये भी पथ बना, मुझे भी आगे ले जा प्रभो! तू ही सुमार्ग पर चला सकता है। प्रभो! मुझे ज्ञात है, कि मुझ में क्या-क्या त्रुटियाँ हैं, कौन-कौन से दोष हैं। मेरे अन्तरंग वहिरंग, अन्दर बाहर को तू जानता है। मेरे विचारों आचारों को, हृदय गुफा के अन्धकार में विलीन संस्कारों तक को तू जानता है। अथ मेरे आत्मा के आत्मन्! अन्तरात्मन्! तुझसे मेरा कुछ भी नहीं छिपा। अतः तू ही मेरे दोषों को, मेरी न्यूनताओं को, मेरे पापों को हटा। हे सर्वरक्षक! बचा मुझे मेरे पापों से, तज्जन्य तापों से बचा। मैं तेरी शरण आता हूं। हे अशरणशरण! सब को परम लक्ष्य तक ले जाने वाले प्रभो! हे अविद्यान्धकारविनाशक विद्यार्कप्रकाशक। हे सद्गुणप्रापक दुर्गुणविनाशक! हे शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव कल्याणनिलय शर्मद! हे मोक्ष के दातः! हे सबके हितसाधक सबके उन्नतिविधायक! हे परमैश्वर्य विधायक परमेश्वर! हे शरण्य! हे वरेण्य! रक्षाकर प्रभो! मैं अंकिचन हूँ, दरिद्र हूं, तेरी भेंट क्या करूं? अपना आपा तेरे अर्पण करता हूं। झुक-झुक कर तुझे प्रणाम करता हूं, नमस्काराञ्जलि तुझे अर्पण करता हूं। मुझे अपनाले, मेरा आपा मिटा दे। प्रभो तुझे तुझे भयोभूयः प्रणाम, शतशः नमस्कार।

(स्वाध्याय संग्रह से उद्धृत)

(5)

ओ३म् हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेय।।

(यजु. 13/4)

हे ज्योतियों के ज्योतिः परमज्योतिः परमात्मन्! जब यह ब्रह्माण्ड नहीं था तब भी आप एक रस विराजमान थे। जब यह संसार इस रूप में नहीं रहेगा, तब भी आप की सत्ता अबाधरूप से बनी रहेगी। वर्त्तमान् में तो आप विद्यमान् हैं ही। सूर्य चन्द्र तारे ग्रह उपग्रह नक्षत्र आदि ज्योतिः पुञ्ज तथा पृथिवी आदि ज्योतिर्हीन लोक सब के सब आप के आधार से हैं प्रभो। तुम इनके उत्पादक, धारक, पालक ही नहीं हो वरन् तुम तो इन सबके स्वामी भी हो। हे सर्वस्वामिन् भगवन्! आप की दया, माया से हमें इन लोकालोक लोकों के द्वारा नाना प्रकार के भोग प्राप्त हो रहे हैं। जीवनाधार विभो! हम तेरी अर्चा करना चाहते है। कैसे करें? क्या भेंट ध रें? स्वामिन! हमारे पास हमारा अपना तो कुछ भी नहीं। जो कुछ है सब तेरा दिया हुआ है। और पितः! हम भी तो आप ही के हैं। अतः प्रभो हम कृतज्ञता प्रकाश के लिये भक्ति की भेंट करते हैं। प्रियतम! अपनी प्रीति का उपहार प्रस्तुत करते हैं। प्रभो! तेरा दिया तेरे आगे धरते हैं। कमनीय! सब की कामनाओं को पूरा करने वाले तू तो निष्काम है, आप्तकाम है। तुझे न किसी वस्तु की आवश्यकता है और न अपेक्षा है। हमारी लालसा है, अतः प्रभो! अत्यन्त आस्था, निष्ठा, श्रद्धा, नम्रता से अपनी भक्ति की भेंट तेरे अर्पण करते हैं। 'स्वीकार करो प्रभो!' यह कहने का साहस कैसे करें? परन्तु हमारा संतोष तो तेरी स्वीकृति पर ही है भगवन्!

(स्वाध्याय संग्रह से उद्धृत)

(6)

ओ३म् स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त।।

(यजु. 32/10)

प्रभो! हम सहायक की खोज में भटक रहे थे। हमें कोई संगी साथी मिलता न था। प्रभो! तेरे भक्त सद्गुरु ने बताया तू हमारा सच्चा बन्धु है, तू हमारा निरन्तर सखा है। सचमुच, सखे! हम ने देख लिया है तू ही हमारा बन्धु है। माता पिता रुष्ट हो जाते हैं, रुष्ट होकर कभी-कभी घर से निकाल देते हैं। परन्तु धन्य हो, परमात्मन्! तुम हम से कभी भी नहीं रूठते। अतः हमारा त्याग भी कभी नहीं करते, सदा हमारे अंग संग रहते हो, सदा अपने उत्संग में रखते हो। सांसारिक मातापिता बन्धुभ्राता अवश्य अपने किसी स्वार्थ को सामने रखकर ही हम से प्यार करते हैं, किन्तु आप तो किसी कारण के बिना, किसी स्वार्थ के बिना प्रेम करते हो। तुम्हारा प्रेम अनुपम है। माता पिता के शयनकाल में, अनवधानसमय में आप ही बालकों की रक्षा करते हो। सब की रक्षा तुम्हारे द्वारा होती है। प्रभो! हम अज्ञ हैं, हमें अपना भी ज्ञान नहीं है, किन्तु तुम तो सर्वज्ञों के सर्वज्ञ हो। हे ज्ञानि शिरोमण! कौन सा स्थान है, कौन सा पदार्थ है जिसे तुम नहीं जानते? हे अनन्त ज्ञाननिधान! महामहिमावान्, भगवान्! मुक्त आत्मा तुझ ही में विचरते हुए मोक्षानन्द का उपभोग करते हैं! हे पितः! क्या हमें तेरी कृपा का कण न मिलेगा? बन्धुवर्य! क्या हम तेरे आनन्द से वञ्चित ही रहेंगे। मित्र अपने विरुद को, बन्धुपद को सामर्थक कर।

(स्वाध्याय संग्रह से उद्धृत)

(7)

ओ३म् यऽआत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

(यजु. 25/13)

हे निर्बलों के बल! चेतनों के चेतन! यह सारा संसार तेरे शासन से चल रहा है। किसी का क्या सामर्थ्य, जो तेरे नियम का उल्लंघन कर सके। बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, महात्मा, तेरा ही ध्यान मनन और चिन्तन करते हैं, तेरी उपासना आराधना से वे ऐसा बल पाते हैं जिसकी उपमा कहीं नहीं। आत्मा को भोग के साधन शरीर, मन, इन्द्रियां तू ही प्रकार करता है। हे महादानी! तेरे दान का कौन बखान कर सकता है? संपूर्ण विश्व तेरे दान की, गौरव गरिमा की गाथा का गान कर रहा है। जीवनाधार! विश्व संसार का तुझी से जीवन है। जिसने तुझे अपनाया, जो तेरी कृपा की छत्रछाया में आया, उसने अपना भवताप मिटाया और वह तर गया, मृत्यु उससे डर गया, चिर जीवन का वह अधिकारी बना। तुझ से विमुख अभागे को जीवनरस कहां? हाय! वे तेरे मूढ़ अभागे पुत्र बार-बार मार के शिकार हो रहे हैं, जनन मरण के विषम विषैले सर्प के आहार हो रहे हैं, उनकी अवस्था "**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजटरे शयनम्**" है। हे मातः दुःखविनाशक! तार, बचा। उन को भी अपना, उन्हें भी सुमार्ग दिखला। जन्म-मृत्यु के चक्र से उनको भी छुड़ा। दीनदयालो! करुणावरुणालय! करुणा कर। हमें अपनी भक्ति का, अनवरत अनुरक्ति का, अमाया श्रद्धा का, गहरी निष्ठा का, सच्ची आस्था का उत्तम दान दे। वन्द्येश्वर हम तेरे भक्त बनें।

(स्वाध्याय संग्रह से उद्धृत)

(8)

ओ३म् यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
य ऽईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

(यजु. 23/3)

हे महामहिमामण्डित! अतुल पराक्रम वाले प्रभो! तेरी महत्ता का, महिमा का पार कौन पा सकता है? यह चर और अचर सृष्टि, यह स्थावर जंगम संसार, यह सप्राण निष्प्राण जगत् तेरी महत्ता, तेरी बड़ाई का पता दे रहा है। यह चराचरात्मक विश्वब्रह्माण्ड मानों तेरे गुणगाण की गणना में तत्पर है। प्रभो! इस विशाल, अतिविस्तृत संसार का ही पार मनुष्य बुद्धि नहीं पा सकती, तेरा जिसने यह सारा संसार रचा है, प्रकाशित किया है, कैसे पार पावे, कैसे पता लगावे? हे स्थावर जंगम के प्रकाशक! तू ही प्रकाश दे, जिससे हम तुझे पा सकें। प्रभो! हमें पता लग गया है, तू ही शरीरों तथा शरीरोपयोगी उपभोग सामग्री का रचने वाला है। अहो प्रभो! तेरी कृपा कितनी बड़ी है। स्वामिन्! तू ही हमारे शरीरों तथा शरीर के उपकरणों का अधीश्वर है। नाथ! मेरा तो कुछ भी नहीं।अतः प्राणनाथ! तेरा दिया ही तेरे अर्पण करता हूं। **'त्वदीयं वस्तु प्राणेश तुभ्यमेव समर्पये'**। दीनानाथ! स्वीकार करो, स्वीकार करो और मेरा तथा इस जगत् के प्राणियों का उद्धार करों, निस्तार करो।

(स्वाध्याय संग्रह से उद्धृत)

(9)

ओ३म्येन द्यौरुग्रापृथिवी चद्दृढ़ायेन स्वस्तभितं येननाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

(यजु. 32/6)

भगवान्! तेरी कृपा, तेरी दया के गुण कहां तक हम गायें। प्रभो! तू हमारे लिये सम्पूर्ण सुखसामग्री का विधान करता है। परेश! पिता! हमारे सुख संविधान के लिये ही तूने यह शस्यश्यामला विशाल मही रची है। नाना प्रकार के प्रकाशों, सूर्यग्रहनक्षत्रादि नाना तेजःपुंजों से देदीप्यमान अविरलप्रकाशमान, द्यौलोक भी तो हमें प्रकाश देने, आलोक देने के लिये तू ने आलोकित किया है। तू आनन्दकन्द है। दुःखलेश भी तो तुझ में नहीं है। तू ने यह संसार हमारे लिये बनाया। प्रभो! हम सांसारिक सुख और पारलौकिक मोक्ष पा सकें, इसके लिये तू ने यह सारा पसारा पसारा है, समूची रचना रची है। प्रभो! हम मूर्ख है, अज्ञानी है, इस तेरे अमृत भरे संसार में, सुधा बरसाने वाले जगत् में अपने कुकर्मो से विष घोल रहे है, विष!, दुख भी फिर हम पाते हैं। अये अन्तरिक्ष में विमान समान लोकों का निर्माण कर स्थापना का विधान करने वाले भगवान्! हमारे हृदयों को भी हलका कर दे, वे उड़ कर इस संसार से ऊपर उठकर तेरे पास पहुंचे। तेरे बिना हमें कहीं सुख शान्ति नहीं मिलने की, मार्ग बता, अपनी भक्ति सिखा। तेरी भक्ति साधना में हम सध जायें।

(स्वाध्याय संग्रह से उद्धृत)

(10)

ओ३म् प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम ।

ऋग. 10/121/10

प्रजापते! जब इस सृष्टि को उत्पन्न ही तू करता है, निर्माण, पालन पोषण, धारण भी तू ही करता है, तब नाथ! तेरे विना इसका स्वामी और कोई कैसे हो सकता है? प्राणियों के प्राण! शरीर तू बनाता है, प्राणियों के प्राणन –साघन, जीवन की सामग्री का तू विधाता है। चेतन

जीव को उस भोगप्राप्ति और मोक्ष-लाभ के लिये तू ही जड़ प्रकृति से मिलाता है। अवश्य ही ये जड़ चेतन तेरे अधीन है, तेरे अधिकार में हैं। तू ही इनका स्वामी, ईश्वर और अधिपति है। हे विधाता:! तू अपनी विध ानशक्ति से विविध प्रकार की सृष्टि रचना करता है। आत्मा ने अपने कर्म द्वारा जैसी और जिस प्रकार की, भली या बुरी इच्छा की, तूने उसकी इच्छा अवश्य पूरी की, और उसकी कामना के अनुरूप सामग्री उसे प्रस्तुत कर दी। अये सब की शुभकामनाओं को पूरा करने वाले कामद पित:! हमें विश्वास है तू किसी को हताश नहीं करता। तेरे द्वार से कोई भी निराश नहीं लौटता। प्रभो! हम एक आशा अभिलाषा लेकर तेरे द्वार पर आये हैं। हमें एक कामना ने आ घेरा है। हम में धन की, सुधन की, संसार के ऐश्वर्य की, परमार्थ की, सम्पत्ति की प्राप्ति की लालसा जगी है। यह तेरी कृपा बिना पूरी नहीं हो सकती। हे सहजकृपालो! अकारण दयालो! हमारी यह कामना, यह भावना अवश्य पूरी करो प्रभो! अवश्य पूरी करो।

(स्वाध्याय संग्रह से उद्धृत)

(11)

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम।।

(ऋग्. 7/41/1)

हे ज्ञान-ध्यान-विद्या-निधान! अपार ऐश्वर्य के आधार! दारिद्रय-दुर्गुण-नाशक प्रभो! विभो! तू हमारे खोटे कर्मो के कारण यदि हमें रुलाता है, तो तू ही हमें शान्ति और प्रसन्नता भी देता है। परमात्मन्!

धन की तलाश और आस में हम तेरे द्वार पर आये हैं, कृपा करके सब ध ानों-ज्ञानधन, घर्मधन, आचारधन, उपकारधन आदि-की साधिका सर्वोत्तम बुद्धि का दान हमें दीजिये। परमेश्वर! आपकी कृपा से जीवननिर्वाह-सामग्री तो हमें मिलेगी, इसमें तो सन्देह ही नहीं। आप की हम पर ऐसी कृपा हो कि हम उत्तम श्रेष्ठ धार्मिक जगन्नायक महात्मा की सत्संगति से उत्तम-जन-धन सम्पन्न हों। प्रभो! चाहे अब की सामान्य अवस्था हो, और चाहे उत्कर्ष प्राप्ति की दशा हो, प्रात:काल की प्रभात बेला हो, अथवा मध्यान्ह् दोपहर का प्रचण्डकाल हो, व सूर्य का अस्तकाल हो, हम पर तेरे प्यारों की सदा कृपा बनी रहे। प्रभो! तुझे छोड़ और किसी को हम अपना भगवान्, पूज्य अराध्य न मानें। समस्त संसार आपकी आराधना करता है। प्रभो! हम तुझे अपना आदर्श बनाते है! ऐश्वर्यवान होकर हम भी तेरे समान अपना ऐश्वर्य लोकहित में लगा दें, प्रभो ऐसी बुद्धि, भावना हमें प्रदान करो।

(स्वाध्याय संग्रह से उद्धृत)

(12)

ओ३म् दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।

(यजु. 36/18)

हे सच्चिदानन्द अनन्तस्वरूप !हे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव! हे कृपालु दयालु भगवन्। हे पुरातन सदातन चिरन्तन जगदीश्वर

परमेश्वर। हे अगतगते! हे वेदमते! आप की लीला अपरंपार है। प्रभो! आप सर्वोपरि है, सर्वान्तर्यामी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, सर्व-सुखदाता हैं, सर्वदु:खत्राता हैं। आप के तुल्य ही इस संसार में कोई नहीं, आप से बढ़कर कौन हो सकता है? दीनानाथ! आप निर्बलों के बल हैं, प्रबलों से प्रबल हैं।आप ने ही आदि सृष्टि में इस ब्रह्माण्ड की रचना की, आप ही इसे आज तक अपने वश में रखकर नियमानुकूल चलाते चले आ रहे हैं और यथासमय आप ही इसका विनाश और विघटन करने वाले हैं।

हे करुणालयवरुणालय! दया के सिन्धो! कृपानिधान! आप सर्वत्र परिपूर्ण हैं, सर्वव्यापक हैं, संसार के अणु-अणु और रोम-रोम में ओत-प्रोत हो रहे हैं, ऐसा कोई स्थान नहीं जहां आप की सत्ता विद्यमान न हो। ऊंचे से ऊंचे पहाड़ों की चोटियों पर और गहरे से गहरे समुद्रों की तरंगों में आप की ज्योति जगमगा रही हैं नहीं-नहीं प्रभो उससे भी आगे जहां मानव की बुद्धि पहुंचती है, वह आप की चमत्कृति को वहां जगमगाता हुआ पाती है। इसीलिये कहा गया है **''नैनद्देवाः प्राप्नुवन् पूर्वमर्षत्''** हे देव! देवाधिदेव! महादेव प्रभो! इन मानवीय देवों, इन्द्रियों में यह शक्ति कहां कि वे आप की गति को प्राप्त हो सकें? वे तो आप से संबन्ध जोड़ कर ही अपने कार्यों के निर्वहन में समर्थ हो पाती हैं।

हे दीनानाथ! आज प्रात: अमृतवेला में आपके चरणों में उपस्थित होकर, हम सब आर्य नर नारी बालक वृद्ध वयोवृद्ध करबद्ध और नतमस्तक, आप से यह याचना करते हैं, हे प्रभो! आप की महती कृपा हम सब पर सर्वदा और सर्वत्र बनी रहे। आपके आशीर्वाद से हमारे शरीर स्वस्थ हों, भुजायें सुदृढ़ हों, अंग प्रत्यंग ठीक-ठाक रहें, हमारे मन उदार हों, हृदय विशाल हों मस्तिष्क उज्ज्वल हों, बुद्धियें कुशाग्र और मेधावी हों। हमारी

भावनायें उच्च हों, आत्मायें निर्मल हों। हम किसी की बुराई में कोई भाग न लें, सब की भलाई में अपनी भलाई समझें, प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखें, सब की आत्माओं में अपने जैसे आत्मा का भान करें, सब के दु:ख-सुख को अपना दु:ख-दुख जानें।

हे प्रभो! इस जीवन में कभी ऐसा समय न आये जब हम आप को भूल जायें, आप से विमुख हो जायें, आप का दामन छोड़ बैठें। दिन हो रात हो, सबेरा हो, अन्धेरा हों, जवानी हो बुढ़ापा हो, दु:ख हो सुख हो, हानि हो लाभ हो, बढ़ती हो घटती हो, सर्वदा और सर्वत्र आप की सत्यता और आप की श्रेष्ठता में हम अटूट विश्वास रखें। दुनियां इधर से उधर हो जाये, विप्लव उठें और शान्त हो जायें, पर आप के प्रति हमारी आस्था में कभी कोई शिथिलता न आये, जहां कहीं जायें ऐसा अनुभव करें कि आप का रक्षक हाथ हमारी रक्षा कर रहा है, आप की छत्रछाया में निर्भीक होकर संसार के कोने कोने में विचरें, सर्वदा संमार्ग का अनुगमन करें और अपने सरल जीवन से प्राणिमात्र को इस ओर आने की प्रेरणा देने वाले हों।

(सम्पादक की लेखनी से)

(13)

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टयऽयआपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः।।

(यजु. 36/12)

हे परमात्मन्! कल्मषापहारिन् दिव्यात्मन्! कालुष्य- निवारक अधमोद्धारक परमोपकारक सर्वसुखकारक शुद्धात्मन्! प्रभो! मैं तेरे पास

आना चाहता हूं। कैसे आऊं? तुझे कैसे पाऊं? मैंने तेरे बनाये शीतल जल से मल-मल कर देह का मल दूर किया है। देह तो विमल हो गया किन्तु शान्ति न मिली। मन का मैल न गया। सब को ठण्डक देने वाले! भवताप मिटाने वाले! सब सन्ताप हटाने वाले! सब को उजला करने वाले पितः! मेरा भी मैल हटा, मेरा भी अन्तःकरण शुद्ध कर। प्रभो शारीरिक नियमों को तोड़ने के साथ मैं अनेक बार वाणी का भी दुरुपयोग कर बैठा हूं। जिस वाणी से तेरा गुणगान करना था, जिस वाणी से अज्ञानियों को ज्ञान का मार्ग बताना था, प्रभो! मैं उससे झूठ बोलता हूँ, उससे दूसरों के दिलों को दुखाने वाले कठोर वचन बोलता हूं, उससे जनवाद, उन्मत्त प्रलाप और बकवाद करता हूं। आप के मन्दिर मन में तो मैंने कुसंस्कारों का कीचड़ डाल कर उसे बहुत ही गंदा कर दिया है अब मुझे डर लगता है, कैसे उसकी शुद्धि करूं? तू स्वयं शुद्ध है और दूसरों का शोधक है, शुद्ध करने वाला है। मैं तेरी शरण में आया हूं, अनन्यशरण हुआ तुझसे ही अपनी अशुद्धि की चिकित्सा कराना चाहता हूं। पतितपावन! पवित्र कर, पवित्र कर।

(स्वाध्याय संग्रह से उद्धृत)

(14)

ओ३म् सहनाववतु सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

(तैत्तिरीयारण्यक ब्रह्मानन्दवल्ली प्रपा. 10 अनु. 1)

हे सहनशीलेश्वर!........ आप की कृपा से हम लोग सदैव आप की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें तथा आप को ही पिता, माता, बन्धु राजा , स्वामी, सहायक, सुखद सुहृत, परमगुरु आदि जानें; क्षण मात्र भी आप को भूल के न रहें; आपके तुल्य वा अधिक किसी को कभी न जाने; आप के अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान्, रक्षक, सहायक, परमपुरुषार्थी हों; एक दूसरे का दुःख न देख सकें; स्वदेशस्थ मनुष्यों को परस्पर अत्यन्त निर्वैर प्रीतिमान् पाखण्डरहित करें तथा हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करें। हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगें यदि आप हम को अपने अनन्त परमानन्द के भागी करें, उस आनन्द से हम लोगों को एक क्षण भी अलग न रखें। आपकी सहायता से परम वीर्य जो सत्यविद्या उसको परस्पर परमपुरुषार्थ से प्राप्त हों। हे अनन्त विद्यामय भगवन्! आप की कृपादृष्टि से हम लोगों का पठनपाठन परमविद्यायुक्त हो तथा हम संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हों और अन्योन्यप्रीति से, परमवीर्यपराक्रम से, निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें। हम में सब नीतिमान सज्जन पुरुष हों और आप हम लोगों पर अत्यन्त कृपा करें जिससे कि हम लोग नाना पाखण्ड, असत्य, वेदविरुद्ध मतों को शीघ्र छोड़ के एक सत्यसनातनमतस्थ हों, जिससे समस्त वैरभाव के मूल जो पाखण्डमत हैं वे सब सद्यः प्रलय को प्राप्त हों।

हे जगदीश्वर! आप के सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष अर्थात् अप्रीति न रहे जिससे हम लोग कभी परस्पर विद्वेष न करें, किन्तु सब लोग तन मन धन विद्या आदि को परस्पर सबके सुखोपकार में परमप्रीति से लगावें। हे भगवन्! आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक जो तीन ताप हैं, इनकी आप शीघ्र निबृत्ति करें जिससे हम लोग अत्यानन्द में रहें और आप की अखण्ड उपासना सदा करते रहें। हे विश्वगुरो! मुझ को असत् पदार्थ, मिथ्या पदार्थ, अनित्य पदार्थ तथा असत् काम से छुड़ा

के नित्य पदार्थ और श्रेष्ट व्यवहार में स्थिर करो। हे जगन्मंगलमय! सब दुखों से मुझ को छुड़ा के सब सुख प्राप्त कराओ! हे प्रजापते! मुझको पुत्र आदि अच्छी प्रजा, हाथी, गौएं घोड़े आदि उत्तम पशु, सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्ती राज्य आदि परमेश्वर्य जो स्थिर परमसुखकारक हो शीघ्र प्राप्त कराओ। हे परम वैद्य! मुझको सर्वदा सब रोगों से छुड़ा कर परम नैरोग्य प्राप्त कराओ, महाराजाधिराज! जिससे मैं स्वस्थ होकर आप की सेवा में निरन्तर लगा रहूं। हे ईश्वर! कुकाम, कुलोभ, कुमोह, भय, शोक, आलस्य, ईर्ष्या, द्वेष, प्रमाद, विषयतृष्णा, नैष्ठुर्य, अभिमान, दुष्टभाव और अविद्या आदि दोषों को मुझ से दूर कीजिये और कृपा कर श्रेष्ट कामों में मुझे प्रवृत्त कीजिये। हे प्रभो! अत्यन्त दीन हो मैं आप से यही वर मांगता हूं। हे प्राणपते प्राणप्रिय प्राणपित: प्राणाधार प्राणजीवन सुराज्यप्रद प्रभो! आप ही मेरे सहायक हो, आपके बिना इस संसार में मेरा कोई नहीं । हे महाराजाधिराज! जैसा सत्य न्याययुक्त अखण्डित आप का राज्य है वैसा न्याययुक्त और स्थिर राज्य हम लोगों को भी प्रदान करो। हे न्यायप्रिय परमात्मन् हम को भी न्यायप्रिय और धर्मात्मा बनाओ। हे करुणामय पित:! जैसे माता पिता अपने संतानों का पालन करते हैं वैसे ही आप हमारा पालन करो।

(आर्याभिविनय के आधार पर पुनरालिखित)

ब्रह्म-स्तोत्र

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय,
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय,
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय।।

अर्थ:- ''हे जगत् के कारण, सदा रहने वाले प्रभो! तुझे नमस्कार हो। हे चेतनस्वरूप, सर्वलोक के आश्रय! तुझे प्रणाम हो। हे मुक्ति के दाता, अद्वैततत्व! तुझे हम नमस्कार करते हैं। हे सहा रहने वाले, सर्वव्यापक, परब्रह्म! तुझे हमारा बारंबार प्रणाम हो।।

भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्,
गति: प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृत्वमेकम्,
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम्।।

अर्थ:- परमात्मन्! आप भयों को भी भय देने वाले हो, आप भीषणों से भी भीषण हो, आप प्राणियों की गति और पवित्रों के पवित्रकर्त्ता हो। प्रभो!
आप महोच्च पदों के एक मात्र नियन्ता हो और आप परों से भी परे और रक्षकों के भी रक्षक हो।

वयं त्वां भजामो वयं त्वां स्मरामो,
वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशम्,

भवाम्भोधिपोतं शरण्यं ब्रजामः।।

अर्थः- हे परमात्मन्! हम आप का ही भजन करते हैं और आप को ही स्मरण करते हैं। हे प्रभो! हम आप को ही सब का साक्षी जान कर पूजते हैं। आप एक हैं और सब के आधार हैं। संसार रूपी समुद्र में रक्षा करने वाले पोत (जहाज) आप ही हैं। हे प्रभो हम आप को ही प्राप्त होते हैं।

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं,
त्वमेकं जगत् पालकं स्वप्रकाशम।
त्वमेकं जगत्-कर्तृपातृप्रहर्तृ,
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्।।

अर्थः- हे प्रभो! आप ही एकमात्र हमारे शरण्य (शरण देने वाले) हो, आप ही श्रेष्ठ (वरणीय) हो; आप ही जगत् के पालक और स्वप्रकाशक हो। परमात्मन्! आप ही अकेले जगत् के कर्त्ता, पालक और संहारक हो। आप ही एक, सब से बड़े, अचल और विकाररहित हो।।

त्वेमव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव देव।।

अर्थः- प्रभो! आप ही हमारे माता और आप ही पिता हैं, आप ही हमारे बन्धु और आप ही सखा हैं। हे स्वामिन्! आप ही हमारी विद्या और आप ही हमारे धन हो। हे नाथ! आप ही मेरे सर्वस्व और पूजनीय उपास्य देव हो।।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्,

तं देवतानां परमं हि दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्,
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।

अर्थः- हे प्रभो! आप महेश्वरों के भी महेश्वर हो और देवताओं के भी पूजनीय देव हो, आप पतियों के भी अधिपति और परों से भी परे हो। हे सर्वजगत् के शासक! हम सदा आप की स्तुति और गुणगान करते रहें।

प्रभु-भक्ति-गीत

भजन नं. 1

जय जय पिता परम आनन्द दाता।
जगदादिकारण मुक्तिप्रदाता।।1।।
अनन्त और अनादि विशेषण हैं तेरे ।
सृष्टि का स्रष्टा तू धर्त्ता संहर्त्ता।।2।।
सूक्ष्म से सूक्ष्म तू है स्थूल इतना।
कि जिसमें यह ब्रह्माण्ड सारा समाता।।3।।
मैं लालित व पालित हूँ पितृस्नेह का।
यह प्राकृत सम्बन्ध है तुझ से ताता।।4।।
करो शुद्ध निर्मल मेरे आत्मा को।
करुँ मैं विनय नित्य सायं व प्रातः।।5।।
मिटाओ मेरे भय को आवागमन के।
फिरूँ न जन्म पाता और बिलबिलाता।।6।।
बिना तेरे है कौन दीनन का बन्धु।
कि जिसको मैं अपनी अवस्था सुनाता।7।।
''अमी'' रस पिलाओं कृपा करके मुझको ।
रहूँ सर्वदा तेरी कीर्त्ति को गाता।।8।।

भजन नं. 2

हे दयामय हम सबों को शुद्धताई दीजिये।
दूर करके हर बुराई को भलाई दीजिये।।1।।
ऐसी कृपा और अनुग्रह हम पै हो परमात्मा।

हों सभासद इस सभा के सबके सब धर्मात्मा।।2।।
हो उजाला सब के मन में ज्ञान के प्रकाश से ।
और अन्धेरा दूर सारा हो अविद्या नाश से ।।3।।
खोटे कर्मों से बचें और तेरे गुण गावें सभी।
छूट जावें दुःख सारे सुख सदा पावें सभी।।4।।
सारी विद्याओं को सीखें ज्ञान से भरपूर हों।
शुभ कर्म में होवें तत्पर दुष्ट गुण सब दूर हों।।5।।
यज्ञ हवन से हो सुगन्धित अपना भारतवर्ष देश।
वायु जल सुखदाई होवें जायें मिट सारे क्लेश।।6।।
वेद के प्रचार में होवें सभी पुरुषार्थी।
होवे आपस में प्रीति और बनें परमार्थी।।7।।
लोभी और कामी क्रोधी कोई भी हममें न हो।
सारे व्यसनों से बचें और छोड़ देवें मोह को।।8।।
अच्छी संगत में रहें और वेदमार्ग पर चलें।
तेरे ही होवें उपासक और कुकर्मों से बचें।।9।।
कीजिये हम सब का हृदय शुद्ध अपने ज्ञान से।
मान भक्तों में बढ़ाओ सबका भक्ति दान से।।10।।

भजन नं. 3

पितु मातु सहायक स्वामी सखा,
तुमही इक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और आधार नहीं,
तिनके तुम ही रखवारे हो।
सब भांति सदा सुखदायक हो।
दुख दुर्गुण नासन हारे हो।

प्रतिपाल करों सगरे जग को,
अतिशय करुणा उर धारे हो।
भुलि हैं हम ही तुम को तुम तो,
हमरि सुधि नाहिं बिसारे हो।
उपकारन को कछु अन्त नहीं,
छिन ही छिन जो बिस्तारे हो।
महाराज महामहिमा तुम्हरी,
समुझैं बिरले बुधिवारे हो।
शुभ शांति-निकेतन प्रेमनिधे,
मन-मन्दिर के उजियारे हो।
यहि जीवन के तुम जीवन हो,
इन प्रानन के तुम प्यारे हो।
तुमसों प्रभु पाय 'प्रताप-हरि'
किहिके अब और सहारे हो।।

भजन नं. 4

यज्ञरूप प्रभो! हमारे भाव- उज्ज्वल कीजिये।
छोड़ देवें छल-कपट को मानसिक बल दीजिये।।
वेद की बोलें ऋचायें सत्य को धारण करें।
हर्ष में हों मग्न सारे शोक सागर से तरें।।
अश्वमेधादिक रचायें यज्ञ पर-उपकार को।
धर्म-मर्यादा चला कर लाभ दें संसार को।।
नित्य श्रद्धा भक्ति से यज्ञादि हम करते रहें।
रोग-पीड़ित विश्व के संताप सब हरते रहें।।
कामना मिट जाये मन से पाप अत्याचार की।

भावनायें शुद्ध होवें यज्ञ से नर-नार की।।
लाभकारी हो हवन हर जीवधारी के लिये।
वायु जल सर्वत्र हों शुभ गंध को धारण किये।।
स्वार्थ-भाव मिटे हमारा प्रेम-पथ विस्तार हो।
'इदन्न मम्' का सार्थक संसार में व्यवहार हो।।
हाथ जोड़ निवाय मस्तक वन्दना हम कर रहे।
'नाथ' करुणारूप करुणा आपकी सब पर रहे।।

भजन नं. 5

अजब हैरान हूँ भगवन्,
तुम्हें क्यों कर रिझाऊँ मैं।
कोई वस्तु नहीं ऐसी,
जिसे सेवा में लाऊं मैं।।
करूँ किस तरह आवाहन,
कि तुम मौजूद हो हर जा।
निरादर है बुलाने को,
अगर घंटी बजाऊँ मैं।।
तुम्हीं हो मूर्ति में भी,
तुम्हीं व्यापक हो फूलों में।
भला भगवान् पर,
भगवान् को कैसे चढ़ाऊँ मैं।।
लगाना भोग कुछ तुम को,
यह इक अपमान करना है।
खिलाता है जो सब जग को,
उसे कैसे खिलाऊँ मैं।।

तुम्हारी ज्योति से रोशन,
हैं सूरज चांद और तारे।
महा अन्धेर है तुमको
अगर दीपक दिखाऊँ मैं।।
भुजायें हैं न सीना हैं,
न गर्दन है न पेशानी।
तू है निर्लेप नारायण,
कहां चन्दन लगाऊँ मैं।।

भजन नं. 6

आनन्द रूप भगवन्,
किस भांति तुझ को पाऊँ।
तेरे समीप स्वामी,
मैं किस तरह से आऊँ।।1।।
सुखमूल मुक्तिरूपम्,
मंगल-कुशल -स्वरूपम्,
घड़ियाल शंख को क्या,
संमुख तेरे बजाऊँ।।2।।
अनुपम परम छबीले,
बिन रंग रस रसीले।
कंटक-सखा हैं फुलवा,
क्या सिर तेरे चढ़ाऊँ ।।3।।
कोटानुकोट भूमि,
उस पर असंख्य प्राणी।
जगदीश अपना नम्बर,

मैं कौन सा गिनाऊँ, ।।4।।
श्री लक्ष्मी हैं तेरी,
निशदिन चरण की चेरी।
ताम्वे का एक पैसा,
मैं साथ क्या चढ़ाऊँ।।5।।
गंगा है तेरी दासी,
सेवक है इन्द्र तेरा।
तेरे शरीर पर क्या,
दो चल्लू जल चढ़ाऊँ।।6।।
छोटे से दास तेरे,
रविचन्द्र हैं उपस्थित ।
करते हैं नित उजाला,
घृत दीप क्या जलाऊँ।।7।।
विनति किशोर की है,
निश-दिन यही दयामय,
हृदय में लौ हो तेरी,
आंखों में मैं समाऊँ।।8।।

भजन नं. 7

आज मिल सब गीत गाओ,
उस प्रभु के धन्यवाद!
जिसका यश नित गाते हैं,
गन्धर्व गुणिजन धन्यवाद।।1।।
मन्दिरों में कन्दरों में,
पर्वतों के शिखर पर।

देते हैं लगातार सौ–सौ बार,
मुनिजन धन्यवाद।।2।।
करते हैं जंगल में मंगल,
पक्षिगण हर शाख पर।
पाते हैं आनन्द मिल,
गाते हैं स्वरभर धन्यवाद ।।3।।
कूओं में, तालाबों में,
सिन्धु की गहरी धार में।
प्रेमरस में तृप्त हो,
करते हैं, जलचर धन्यवाद।।4।।
शादियों में, जलसयों में,
यज्ञ और उत्सव के आद।
मीठे स्वर से चाहिये,
करें नारी–नर सब धनयवाद।।5।।
गानकर 'अमीचन्द' भजनानन्द,
ईश्वर की स्तुति।
ध्यान धर सुनते हैं श्रोता,
कान घर–घर धन्यवाद।।6।।

भजन नं. 8.

तुम हो प्रभु चांद में हूँ चकोरा,
तुम हो कमल फूल मैं रस का भौंरा।
ज्योति तुम्हारी का मैं हूँ पतंगा,
आनन्दघन तुम हो मैं बन का मोरा।
जैसे है चुम्बक को लोहे से प्रीति,

आकर्षण करे मोहि लगातार तोरा।
पानी बिना जैसे हो मीन व्याकुल,
ऐसे ही तड़पाय तुमरा बिछोड़ा।
इक बूंद जल का मैं प्यासा हूं चातक।
करो वर्षा अमृत हरो ताप मोरा।

भजन नं. 9.

विश्वपति के ध्यान में,
जिसने लगाई हो लगन।
क्यों न हो उसको शांति,
क्यों न हो उसका मन मगन।।1।।
काम क्रोध लोभ मोह,
शत्रु हैं ये महाबली।
इनके हनन के वास्ते,
जितना हो तुझसे कर यतन।।2।।
ऐसा बना स्वभाव को,
चित्त की शान्ति से तू।
पैदा न होवे ईरषा
दिल में करे नहीं जलन।।3।।
मित्रता सबसे मन में रख,
त्याग के वैर भाव को।
छोड़ दे टेढ़ी चाल को,
ठीक कर अपना तू चलन।।4।।
जिससे अधिक न है कोई,
जिसने रचा है यह जगत्।

उसका ही ले तू आसरा,
उसकी ही तू पकड़ शरण।।5।।
छोड़ के राग द्वेष को,
मन में तू उसका ध्यान कर।
मुझ पै दयाल होवेंगे,
निश्चय ही वह परमात्मन।।6।।
आप दयास्वरूप हैं,
आप ही का है आसरा।
कृपा की दृष्टि कीजिये,
मुझ पै हो जब समय कठिन ।।7।।
मन में मेरे हो चांदना,
मोक्ष का रस्ता मिले।
मार के मन जो 'केवला'
इन्द्रियों का करे दमन ।।8।।

–+–

आरती

ओ३म् जय जगदीश हरे, पिता जय जगदीश हरे।
भक्त जनन के संकट, क्षण में दूर करे।।1।।
जो ध्यावे फल पावे, दु:ख विनसे मन का।
सुख सम्पति घर आवे, कष्ट मिटे तन का।।2।।
मात पिता तुम मेरे, शरण गहूं किसकी।
तुम बिन और न दूजा, आस करूं जिसकी।।3।।
तुम पूरण परमात्मा, तुम अन्तर्यामी।
पारब्रह्म परमेश्वर, तुम सबके स्वामी।।4।।
तुम करुणा के सागर, तुम पालनकर्त्ता।
मैं सेवक तुम स्वामी, कृपा करो भर्त्ता।।5।।
तुम हो एक अगोचर, सबके प्राणपति।
किस विधि मिलूं दयामय, तुमको मैं सुमति।।6।।
दीनाबन्धु दु:खहर्त्ता, तुम रक्षक मेरे।
करुणाहस्त बढ़ाओ, द्वारा पड़ा तेरे।।7।।
विषय विकार मिटाओ, पाप हरो देवा।
'श्रद्धा' भक्ति बढ़ाओ, सन्तन की सेवा।।8।।

ध्वजगीत

जयति ओ३म् ध्वज व्योम विहारी,
विश्व प्रेम प्रतिमा अति प्यारी।।
सत्यसुधा बरसाने वाला,
स्नेहलता सरसाने वाला।
साम्यसुमन विकसाने वाला,
विश्वविमोहक भवभय हारी।।जयति.
जिसके नीचे बढ़ें अभयमन,
सत्यपथ पर सब धर्मधुरिजन।
वैदिक रवि का हो शुभ उदयन,
आलोकित होवें दिशा सारी ।।जयति.
जिससे सारे क्लेश शमन हों,
दुर्मतिदानव द्वेष दमन हों।
अति उज्ज्वल अति पावन मन हों,
प्रेम तरंग बहे सुखकारी।। जयति.
इसी ध्वजा के नीचे आकर,
ऊंच नीच का भेद भुलाकर।
मिले विश्व मुद-मंगल गाकर,
पंथाई पाखण्ड विसारी।। जयति.
इस ध्वज को लेकर हम कर में,
भर दें वेदज्ञान घर-घर में।
सुभग शान्ति फैले जग-भर में
मिटे अविद्या की अधिकारी।। जयति.

विश्वप्रेम का पाठ पढ़ायें,
सत्य अहिंसा को अपनायें।
जग में जीवनज्योति जगायें,
त्यागपूर्ण हों वृत्ति हमारी।। जयति.
आर्यजाति का सुयश अछय हों,
आर्य ध्वजा को अविचल जय हो।
आर्य जनों का ध्रुव निश्चय हों,
आर्य बनायें वसुधा सारी।। जयति.

– + –

शान्तिपाठ

प्रत्येक धार्मिक समारम्भ के अन्त में इस मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिये:-

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ् शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।

(यजु. 36/17)

अर्थः- हे परमेश्वर! प्रकाशयुक्त सूर्य आदि, अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल, औषधियां, वनस्पतियां, सब विद्वान् लोग, सब ज्ञान और सब अन्य पदार्थ शान्तिदायक (निरुपद्रव) हों। शान्ति स्वयं और अधिक शान्ति देने वाली हो। हे प्रभो! (आपकी कृपा से) ऐसी ही शान्ति मुझे भी प्राप्त हो।

संगठन-सूक्त

ओ३म् सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर।।1।।

हे प्रभो! तुम शक्तिशाली हो बनाते सृष्टि को।
वेद सब गाते तुम्हें हैं कीजिए धन-वृष्टि को।।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजनाना उपासते।।2।।

प्रेम से मिलकर चलो बोलो सभी ज्ञानी बनो।
पूर्वजों की भांति तुम कर्त्तव्य के मानी बनो।।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।3।।

हों विचार समान सबके चित्त मन सब एक हों।
ज्ञान देता हूँ बराबर भोग्य पा सब नेक हो।।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।4।।

हों सभी के दिल तथा संकल्प अविरोधी सदा।
मन भरे हों प्रेम से जिस से बढ़े सुख-सम्पदा।।

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्ति शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिः

आर्य समाज के नियम

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।
2. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है; उसी की उपासना करने योग्य है।
3. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यो का परम धर्म है।
4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।
5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।
6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।
8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।
9. प्रत्येक को अपनी उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये। किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।
10. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालन में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।